प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

हिन्दी अनुवाद, विस्तृत उपोद्घात और टिप्पणी सहित

जयदेव सिंह

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

हिन्दी अनुवाद, विस्तृत उपोद्घात और टिप्पणी सहित

अनुवादक, व्याख्याकार एवं सम्पादक

जयदेव सिंह

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलका[ता]
वाराणसी, पुणे, पटन[ा]

पुनर्मुद्रण: दिल्ली, २००२, २००७
द्वितीय संशोधित संस्करण: वाराणसी, १९८३

ISBN: 978-81-208-2102-6

मोतीलाल बनारसीदास
४१ यू०ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८ महालक्ष्मी चैम्बर, २२ भुलाभाई देसाई रोड, मुम्बई ४०० ०२६
२३६ नाइंथ मेन III ब्लाक, जयनगर, बंगलौर ५६० ०११
सनाज प्लाजा, १३०२ बाजीराव रोड, पुणे ४११ ००२
२०३ रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, चेन्नई ६०० ००४
८ केमेक स्ट्रीट, कोलकाता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली ११० ००७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

प्रस्तावना

जिस प्रकार वेदान्तदर्शन समझने के लिए छोटे ग्रंथों में 'वेदान्तसार' नामक ग्रंथ बहुत उपयोगी है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन समझने के लिए 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' बहुत उपयोगी है।

कई वर्ष पूर्व मैंने इसका अँगरेजी में अनुवाद किया था। अब इसका हिन्दी में अनुवाद कर दिया है। प्रत्येक पृष्ठ पर मूल संस्कृत पाठ देकर उसके नीचे उसका हिन्दी अनुवाद दिया है। पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक और दुरूह शब्दों पर विस्तृत टिप्पणियाँ दी गई हैं जिनके द्वारा इस दर्शन का रहस्य सरलता से समझ में आ सकता है। प्रारम्भ में एक उपोद्घात में इस दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। उपोद्घात और टिप्पणियाँ इस अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। उपोद्घात के अनन्तर प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार दे दिया गया है।

अनुवाद इस प्रकार से किया गया है कि मूल के प्रत्येक शब्द का अर्थ भली भाँति समझ में आ जाय।

इस ग्रंथ को मुझे कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन के अद्वितीय मर्मज्ञ स्वामी लक्ष्मण जू ने स्नेहपूर्वक पढ़ाया। इसके लिए मैं उनका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। कुछ कठिन सूत्रों को समझने में महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज की गवेषणापूर्ण व्याख्या से मुझे बहुत लाभ हुआ है। एतदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। ग्रंथ के कुछ कठिन स्थलों के मूल को समझने में मुझे आचार्य पण्डित रामेश्वर झा से बड़ी सहायता मिली है। इसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रंथ में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग सर्वत्र पुल्लिंग में हुआ है।

दूसरे संस्करण की भूमिका

इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण में दुर्भाग्य वश छापे की बहुत सी अशुद्धियाँ रह गईं थीं। वे सब इस संस्करण में शुद्ध कर दी गईं हैं।

दो स्थलों में एक वाक्य अथवा वाक्यांश का अनुवाद छपने में छूट गया था। उसकी पूर्ति कर दी गई है। दो-एक स्थानों में अनुवाद के शब्दों में स्पष्टता की दृष्टि से थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है।

वाराणसी **जयदेव सिंह**

यह ग्रन्थ

गुरुवर श्रीमान् स्वामी लक्ष्मण जू

को

सादर समर्पित है

जिन्होंने कृपाकर मुझे

प्रत्यभिज्ञादर्शन का दिग्दर्शन कराया ।

उपोद्घात

उपोद्घात

प्राथमिक वक्तव्य

शैव धर्म कदाचित् संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। सर जान मार्शल ने अपनी 'मोहञ्जोदड़ो ऐण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन' नामक पुस्तक में लिखा है कि मोहञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह पता चलता है कि शैव धर्म का इतिहास ताम्रपाषाणयुग का अथवा उससे भी पूर्व तक का है और इस प्रकार यह संसार का अत्यन्त प्राचीन धर्म है।

भारत में इसकी तीन विधाएँ दृष्टिगोचर होती हैं—कर्णाटक का वीरशैव, तामिलनाडु का शैव सिद्धान्त और कश्मीर का अद्वैत शैव धर्म। तीनों में कुछ सामान्य लक्षण हैं, किन्तु कुछ विशेष अन्तर भी है। इस ग्रन्थ का विषय केवल कश्मीर का अद्वैत शैव दर्शन है।

भारत में दर्शन कभी भी केवल बौद्धिक विलास की वस्तु नहीं रहा। भारत के लिए दर्शन केवल चिन्तन-सरणि नहीं है, अपितु जीवन-सरणि है। न तो यह निरर्थक कौतूहल से प्रसूत हुआ है, और न यह एक बौद्धिक व्यायाम मात्र है। यहाँ प्रत्येक दर्शन धर्म है और प्रत्येक धर्म का दार्शनिक आधार है। यहाँ एक लम्बा उपनेत्रधारी अध्यापक जो अपने छात्रवर्ग को अपने व्याख्यान का सार लिखवा रहा हो दार्शनिक नहीं कहलाता था और न ही वह दार्शनिक समझा जाता था जो अपने अध्ययन-कक्ष में बैठा-बैठा वादों का तन्तुजाल बुन रहा हो। यहाँ दार्शनिक वह माना जाता था जो जीवन के रहस्य को जानने के लिए एक गम्भीर आन्तरिक प्रेरणा से प्रणोदित होता था, जो तीव्र आध्यात्मिक साधना में व्यग्र रहता था और जो अपने जीवन को रूपान्तरित कर प्रकाश का दर्शन करता था। अपने समकालीन जनों के लिए करुणा से प्रेरित होकर, जिस सत्य का वह अनुभव करता था उसे मानव की तार्किक बुद्धि को अवगत कराने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार इस देश में दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ।

कश्मीर का अद्वैत शैव दर्शन इसी प्रकार का रहा है। शताब्दियों तक वह एक गुह्य सिद्धान्त के रूप में साधक को बतलाया जाता था जिसको उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना पड़ता था और अपनी आध्यात्मिक प्रयोगशाला में उसका परीक्षण करना पड़ता था। कालान्तर में केवल उपासना और अनुष्ठान-पद्धति रह गयी। उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि को लोग भूल गये। क्यादि कुछ इने गिने ऐसे

साधक अब भी थे जो मौखिक परम्परा द्वारा उसके दार्शनिक सिद्धान्त को जानते थे, किन्तु इतिहास के द्वारा उस सिद्धान्त को लिखित रूप में प्रस्तुत करने वाले जिस चिन्तक का पता चलता है वह वसुगुप्त थे। विद्वानों का मत है कि वह ईसवी आठवीं शती के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ में हुये थे। तब से कश्मीर में दार्शनिक ग्रन्थ सक्रिय रूप से और लगातार चार शतियों तक लिखे गये। इस दर्शन का वाङ्मय अब इतना इकट्ठा हो गया है कि उसका अध्ययन करने के लिए पूरा एक जीवनकाल चाहिए। इस दर्शन के कुछ ग्रन्थ अभी तक नहीं प्रकाशित हुये हैं।

शैव दर्शन का वाङ्मय

शैव दर्शन का वाङ्मय तीन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) आगम शास्त्र
(ख) स्पन्द शास्त्र
(ग) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

(क) आगम शास्त्र :

यह दैवीज्ञान माना जाता है जो कि गुरु-शिष्य परम्परा से चला आया है। इस कोटि के निम्नलिखित ग्रंथ हैं :—

मालिनी विजय, स्वच्छन्दतंत्र, विज्ञानभैरव, मृगेन्द्र, रुद्रयामल, शिवसूत्र। शिवसूत्र पर वृत्ति, भास्कर और वर्धराज के वार्तिक और क्षेमराज की विमर्शिनी व्याख्याएँ मिलती हैं। मालिनी विजय, स्वच्छन्दतंत्र और विज्ञानभैरव पर भी व्याख्याएँ हैं।

(ख) स्पन्द शास्त्र :

इसमें इस दर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। स्पन्द सम्बन्धी निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं :—

स्पन्दसूत्र जिसका दूसरा नाम है स्पन्दकारिका। इसमें शिवसूत्र में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। स्पन्दकारिका पर निम्नलिखित दीपिकाएँ उपलब्ध हैं।

रामकण्ठ की विवृति, उत्पल वैष्णव की प्रदीपिका, क्षेमराज का स्पन्दसन्दोह और स्पन्दनिर्णय। स्पन्दसन्दोह में केवल प्रथमकारिका पर टीका है।

(ग) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र :

यह शैव दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का मानव की तार्किक बुद्धि के लिए व्याख्या करता है। इसमें आगम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है। इसमें तर्क, वाद-प्रतिवाद का प्रयोग किया गया है।

इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ सोमानन्द की शिवदृष्टि है। सोमानन्द के शिष्य उत्पल देव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' लिखी। इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ हैं :— स्वयं उत्पलदेव द्वारा लिखी वृत्ति, अभिनवगुप्त द्वारा लिखी हुई प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी और प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी। क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' लिखा जिसमें प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का सार आ गया है।

अभिनवगुप्त ने १२ खण्डों में 'तंत्रालोक' और एक पृथक् ग्रन्थ 'तंत्रालोक सार' लिखा जिसमें शैव दर्शन[१] के सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् :

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में क्षेमराज ने समस्त प्रत्यभिज्ञादर्शन का सार प्रस्तुत किया है। क्षेमराज अभिनवगुप्त के प्रतिभाशाली शिष्य थे। अभिनवगुप्त की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह तंत्र, योग, दर्शन, काव्य और नाटचशास्त्र के अनुपम विशेषज्ञ थे। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार अभिनवगुप्त ईसवी दसवीं शती में हुये थे। क्षेमराज उनके शिष्य थे। अतः उनका भी काल दशवीं शती है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, विज्ञानभैरवोद्योत, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्तवचिन्तामणिटीका, पराप्रावेशिका, तत्त्वसन्दोह।

उनके वंश और जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। यह मत बिलकुल ठीक है कि उनके 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ग्रन्थ का शैव या त्रिक वाङ्मय में वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्तसार का है। इस ग्रन्थ में विवादग्रस्त बातों को छोड़ दिया गया है और प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का बहुत संक्षिप्त रूप में कुशलता से प्रतिपादन किया गया है। क्षेमराज ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है :—

'इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषितपारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषामीश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते''।

''इस जगत् में कुछ ऐसे भक्त लोग हैं जो सुकुमारबुद्धि के हैं, जिन्होंने कठिन तर्कशास्त्र में परिश्रम नहीं किया है किन्तु जो परमेश्वर के साथ उस समावेश की अभिलाषा करते हैं जो कि शक्तिपात से विकसित होता है, उनके लिए ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में जो उपदेश हैं उनके तत्त्व को थोड़ा खोला जा रहा है''।

---

१. ऊपर जो शैव दर्शन का ऐतिहासिक विवरण दिया गया है उसके लिये मैं जे० सी० चैटर्जी के 'काश्मीर शैविज्म' का ऋणी हूँ।

वह उत्पलाचार्य की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' को इस दर्शन का एक उत्तम ग्रन्थ मानते थे। जो प्रभु के अनुग्रह से 'प्रत्यभिज्ञा' के मुख्य सिद्धान्तों को जानना चाहते हैं परन्तु जो कठिन तर्क के अभ्यास के न होने के कारण उत्पलाचार्य के महान् ग्रन्थ को समझने में असमर्थ हैं उनके लिये उन्होंने एक सुखसाध्य और सरल पुस्तक प्रस्तुत की है। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के कठिन तार्किक विवेचन को छोड़कर मुख्य सिद्धान्तों को थोड़े से पृष्ठों में संक्षिप्त करने में उनको अपूर्व सफलता मिली है। जो लोग प्रत्यभिज्ञा के प्रारम्भिक ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक बहुत काम की है। उन्होंने स्वयं सूत्रों का भी ग्रथन किया है और व्याख्या भी लिखी है।

'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ है 'पहचान'। जीव वस्तुतः शिव है, किन्तु वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और अपने देह और मन से अपना तादात्म्य माने बैठा है। 'प्रत्यभिज्ञा' का उपदेश उसको अपने वास्तविक स्वरूप को समझने में सक्षम बनाने के लिए है, उसको यह सत्य हृदयंगम कराने के लिए है कि उसका वास्तविक स्वरूप शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसको वह साधना सुझाने के लिए है जिससे उसको शिव में समावेश की प्राप्ति हो जाय। उस उपदेश का विस्तृत वर्णन पुस्तक के भीतर मिलेगा। यहाँ पर हम इस दर्शन के मुख्य मन्तव्यों का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सिंहावलोकन करेंगे :—

१—परमार्थ या चरम तत्त्व, २—जगत्, ३—स्वातंत्र्यवाद और आभासवाद, ४—षडध्वा, ५—शांकर अद्वैतवाद के साथ तुलना, ६—जीव, ७—बन्ध, ८—मोक्ष।

१. परमार्थ :

परमार्थ अपने चरम रूप में चित् या परासंवित् है। चित् सब परिवर्तन-शील पदार्थों का निर्विकार तत्त्व है। इस चित् या परासंवित् में वेदना के समान अव्यवहितत्व होता है जिसमें अहं (मैं) और इदं (यह) का, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। इसमें अहं और इदं की अविभाजित एकता रहती है। यह वह चेतना है जिसको सदा अपनी चेतना बनी रहती है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के शब्दों में यह 'प्रकाशविमर्शमय' है।

परमार्थ या चरमतत्त्व को इस शास्त्र में परमशिव या महेश्वर या परमेश्वर कहते हैं। यह 'प्रकाश' मात्र नहीं है। 'प्रकाश' वह है जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है। कठोपनिषद् के शब्दों में 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। 'उसी के प्रकाशमान होने के कारण ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशमान है।''

शांकरवेदान्त भी उसको 'प्रकाश' कहता है। किन्तु सूर्य भी तो प्रकाश है, हीरा भी तो प्रकाश है, तो फिर चरमतत्त्व और इसमें (सूर्य या हीरा में) क्या भेद है ? शैवदर्शन कहता है कि चरमतत्त्व प्रकाश मात्र नहीं है, वह जड़ हीरे के समान प्रकाश नही है, वह विमर्श भी है अर्थात् वह अपना ईक्षण भी करता है। जैसा कि क्षेमराज ने पराप्रावेशिका (पृ०२) में कहा है, यह विमर्श, 'अकृत्रिमाहं-विस्फुरणम्' है, यह अकृत्रिम, शुद्ध स्वाभाविक अहं (मैं) का स्फुरण है, अर्थात् यह अहं और इदं के व्यवधान से शून्य, अव्यवहित 'स्व' का बोध है। इस अकृत्रिम 'अहं' पर टिप्पणी में प्रकाश डाला गया है। यदि चरमतत्त्व प्रकाश मात्र होता और विमर्श न होता, तो वह निरीश्वर और जड हो जाता। 'यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत' (पराप्रावेशिका पृ० २)। इसी विमर्श ही द्वारा जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार होता है।

चित् अपने को चित्रूपिणी शक्ति के रूप में जानता है। यही विमर्श है। विमर्श के कई नाम हैं यथा पराशक्ति, स्वातंत्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द (दे० पराप्रावेशिका पृ० २)।

इससे स्पष्ट है कि चरमतत्त्व चिन्मात्र नहीं है, चित्शक्ति भी है। यह सर्वसंग्राही चित् अनुत्तर भी कहलाता है, क्योंकि उससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं। यह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी।

२. जगत् :

परमार्थ रिक्त या अभिव्यक्तिरहित नहीं है। उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उसमें भूत, भवत्, भविष्यत् सब कुछ बीज रूपेण विद्यमान है। यदि परमार्थ, चित् संवित् या महेश्वर में प्रकट होने की क्षमता न होती, तब तो वह चित् या संवित् ही नहीं कहा जा सकता था, तब तो वह जड़ पदार्थ के समान हो जाता।

"अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्"

(तंत्र० ३, १०० श्लो०)

"यदि महेश्वर एक रूप में पड़ा रह जाता, यदि वह अनन्त रूपों में प्रकट न होता, तब तो उसका महेश्वरत्व और संवित्त्व ही समाप्त हो जाता और वह एक जड़ घट के समान हो जाता"।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि परमशिव "प्रकाश विमर्शमय" है। उस अवस्था में अहं (मैं) और इदं (यह), शिव और विश्व एक अभिन्न ऐक्य में होते हैं। अहं प्रकाश रूप है और अहं का अहंरूपेण प्रत्यवमर्श (अनुचिन्तन) विमर्श रूप है। यही विमर्श स्वातंत्र्य या अबाधित शक्ति है। पराप्रावेशिका में क्षेमराज

ने इसी को परम शिव का हृदय कहा है। (हृदयं परमेशितुः)। शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं है, उसी का प्ररूप है। परम अनुभूति में जो इदं कहा जाता है वह अहं ही है। यह विमर्श या शक्ति-शून्य नहीं है। इसमें सब कुछ है।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥

(पराप्रावेशिका में क्षेमराज द्वारा उद्धृत)

जैसे बरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्तिरूप में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार यह चराचर विश्व शक्तिरूप में महेश्वर के हृदय (विमर्श) में विद्यमान रहता है। दूसरा उदाहरण जो प्रायः दिया जाता है वह मयूर (मोर) का है। मयूर जैसे अपने सारे चित्रित पिच्छकलाप सहित मयूराण्डरस में सम्भाव्यता के रूप में विद्यमान है, वैसे ही समस्त विश्व महेश्वर की शक्ति में विद्यमान है। महेश्वर की शक्ति को ही चिति या पराशक्ति कहते हैं।

परमशिव की शक्ति तो अनन्त है, किन्तु निम्नलिखित पाँच शक्तियाँ मुख्य हैं :—

१. चित्--आत्मप्रकाशन की शक्ति। इस प्ररूप में वह शिव कहलाता है।
२. आनन्द-इसको स्वातंत्र्य भी कहते हैं। (स्वातंत्र्यमानन्दशक्तिः-तंत्रालोकसार भा०)। इस प्ररूप में महेश्वर शक्ति कहलाता है। एक प्रकार से चित् और आनन्द महेश्वर का स्वरूप ही है। शेष सब उसकी शक्तियाँ हैं।
३. इच्छा-सर्जन की प्रवृत्ति। इस प्ररूप में वह सदाशिव और सादाख्य कहलाता है।
४. ज्ञान-इस प्ररूप में वह ईश्वर कहलाता है।
५. क्रिया-कोई भी आकार ग्रहण करने की शक्ति (सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः-तंत्रालोकसार भा०) इस प्ररूप में वह सद्विद्या या शुद्ध विद्या कहलाता है।

विश्व महेश्वर की शक्ति का उन्मेष या प्रसर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(i) अपरिमित अनुभव के तत्त्व : १-५:

हम यह देख चुके हैं कि परमशिव के दो प्ररूप है विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। उसका विश्वमय सर्जनात्मक रूप है। यह विश्वमय सर्जनात्मक रूप 'शिवतत्त्व' कहलाता है।

१. शिवतत्त्व—परमशिव का स्पन्द है। जैसा कि षट्त्रिंशत्-तत्व-सन्दोह में कहा गया है—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ।

(पृ० १, श्लोक० १)

जब अनुत्तर (परमशिव) अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिए स्पन्द-मान होता है तो उसका आद्य स्पन्द उसके जानकारों द्वारा 'शिव तत्त्व' कहलाता है।

२. शक्तितत्त्व :

यह शिव की ही शक्ति है। शक्ति 'निषेधव्यापाररूपा' कही गई है। शक्ति पहले इदं (यह) या वेद्य का निषेध कर देती है। इस स्थिति को शून्यातिशून्य कहते हैं। चित् या परासंवित् में अहं और इदं अभिन्न हैं। शिवतत्व में से शक्ति के व्यापार से इदं प्रत्याहृत हो जाता है, केवल अहं रह जाता है। क्षेमराज ने इस स्थिति को अनाश्रित शिव कहा है। उनके शब्द हैं :—

श्री परमशिवः—पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्याय-
शून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति ।

इस अवस्था में शिव इदं से रहित केवल अहं के रूप में रहता है। शिव विश्वरूप में भासित हो, इसके लिए 'अहमिदम्' के एकात्म अनुभव में एक व्यवधान आवश्यक हो जाता है। परन्तु यह एक अवस्था है। वेदक से वेद्य पृथक् होकर पुनः अहमिदम्-एकात्मरूप में नहीं, किन्तु अहं इदं इस रूप में प्रकट होता है जिसमें अहं और इदं विविक्त तो हैं, किन्तु विच्छेद्य नहीं हैं क्योंकि वे एक ही आत्मा या चित् के अंग हैं।

शक्ति चित् को अहं और इदं में, वेदक और वेद्य में अभिस्पन्दित कर देती है। शक्ति शिव से भिन्न नहीं है, वह शिव की सर्जनोन्मुखता मात्र है। वह शिव का अहंविमर्श है। जैसा कि महेश्वरानन्द ने अपने महार्थमञ्जरी में कहा है—

'स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन् ।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः ॥

(पृ० ४०)।

वही (शिव ही) अपने हृदय के इच्छा-ज्ञान-क्रिया रूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिये उन्मुख होने पर शक्ति स्वभाव वाला कहलाता है।

महेश्वरानन्द इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति
तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते ।

(पृ० ४०)

जब शिव अपने हृदय में (बीजरूपेण) विद्यमान अर्थतत्त्व को बाहर करने के लिए उन्मुख होता है तब वह शक्ति कहलाता है।

शक्ति चित् की क्रियाशीलता या गतिशीलता है। विमर्श या उन्मुखता के सदृश विचार छान्दोग्योपनिषत् के निम्नलिखित वाक्य में मिलता है :—

"सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्—
तदैक्षत बहु स्याम्, प्रजायेय इति।

(६, २, १-३)

पहले एक, द्वितीय के बिना सत् ही था। उसने ईक्षण किया, बहु हो जाऊँ, प्रजनन करूँ।

यह ईक्षितृत्व विमर्श या उन्मुखता के सदृश है, किन्तु शांकरवेदान्त ने इसके निहितार्थ को प्रस्फुटित नहीं किया।

शैवदर्शन परम शिव को एक शुष्कतार्किक के रूप में नहीं मानता, वह उसे एक कलाकार के रूप में देखता है। जैसे एक कलाकार अपने आनन्द को अपने भीतर ही नहीं रख सकता, किन्तु उसे गान, चित्र या कविता में उड़ेल देता है, इसी प्रकार सर्वोच्चकलाकार परमशिव अपने वैभव के आनन्दपूर्ण चमत्कार को सृष्टि में उड़ेल देता है। क्षेमराज ने उत्पलदेव की स्तोत्रावली की व्याख्या में इसी विचार को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

'आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना'

अर्थात् शक्ति आनन्द से उच्छलित होकर अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है। समस्त सृष्टि शिव की सृष्टिकल्पना की बाह्याभिव्यक्ति है।

शक्ति तत्त्व में महेश्वर के आनन्द का प्राधान्य है। शिव और शक्ति तत्त्व कभी पृथक् नहीं रह सकते। वे सृष्टि और संसार दोनों में संयुक्त रहते हैं—शिव ईक्षिता के रूप में और शक्ति आनन्द के रूप में। वस्तुतः शिव-शक्ति तत्त्व आभास नहीं है, सभी आभासों का बीज है।

३. सदाशिव अथवा सादाख्य तत्त्व :

इदं के प्रतिज्ञापन की इच्छा सदाशिव तत्त्व अथवा सादाख्य तत्त्व है। सदाशिव में इच्छा का प्राधान्य है। इस अवस्था का अनुभव है 'मैं हूँ' यतः इस अवस्था में होने का प्रतिज्ञापन होता है अतः, यह सादाख्यतत्त्व कहलाता है। सत् का अर्थ है होना, और होने में इदं (यह) ध्वनित है। मैं हूँ—क्या हूँ—यह (इदं)

हूँ। इस अवस्था का अनुभव है 'अहं इदं' (मैं यह हूँ) किन्तु इदं (यह) अभी अस्फुट है। अहं (मैं) ही अभी प्रधान है। इस अवस्था में विश्व अभी अस्फुट इदं मात्र है। इसीलिए इस अवस्था को प्रायः निमेष कहा गया है (निमेषोऽन्तः सदाशिवः)। इस अवस्था में अहं जो अस्फुट रूप में 'इदं' है उसको अपनाही अंश समझता है। अभी प्रमुखता अहं की ही है। जैसे चित्रकार के मन में चित्र प्राथमिक अवस्था में एक अस्फुट, धुंधले रूप में रहता है वैसे ही सदाशिव में इदं अर्थात् विश्व अभी अस्फुट रूप में रहता है। राजानक आनन्द ने षट्त्रिंशत्-तत्त्व सन्दोह पर लिखे हुए अपने विवरण में ठीक ही कहा है —

"तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य
अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्"

(पृ० ३)

अर्थात् इस अवस्था में इदं अंश (विश्व) वैसे ही अस्फुट रहता है जैसे एक चित्रकार का चित्र जो कि बनाया जाने वाला है पहले मन में धुंधले रूप में रहता है। अतः इस अवस्था में इच्छा का ही प्राधान्य है। क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहते हैं—

"सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं विश्वम्"

अर्थात् सदाशिवतत्त्व में इदन्तामय विश्व अभी अस्फुट (अस्पष्ट) रहता है, अभी वह अहन्ता से आच्छादित रहता है अर्थात् अभी अहंभाव का ही प्राधान्य रहता है। सदाशिव प्रथम आभास है। आभास के लिए एक द्रष्टा या प्रमाता होना चाहिए और एक दृश्य या प्रमेय होना चाहिए। इस सर्वव्यापी दशा में प्रमाता और प्रमेय दोनों चेतना ही है, क्योंकि इस दशा में चेतना के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। चेतना इस दशा में स्वयं अपना प्रमेय है; प्रमाता भी वही है, प्रमेय भी वही है।

४. ईश्वरतत्त्व :

पारमेश्वरीय अनुभव की परवर्ती अवस्था वह है जिसमें समग्र अनुभव का इदमंश और अधिक स्फुट हो जाता है। इसको ईश्वरतत्त्व कहते हैं। यह उन्मेष है अर्थात् यह विश्व का स्फुट रूप से खिल उठना है। इस अवस्था में ज्ञान का प्राधान्य रहता है। राजानक आनन्द अपने विवरण में कहते हैं :—

"अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः"

अर्थात् इस अवस्था में वेद्य या प्रमेय अधिक स्फुट होता है, इसलिए ज्ञान-शक्ति का प्राधान्य है। जैसे चित्रकार के मन में प्रदर्श्य चित्र की पहले धुंधली सी रूपरेखा होती है, फिर उसका अधिक स्पष्ट रूप उमगने लगता है, वैसे ही सदाशिव

की अवस्था में विश्व अस्फुट रहता है और ईश्वर की अवस्था में वह अधिक स्फुट हो उठता है । सदाशिव का परामर्श है 'अहम् इदम्' । ईश्वर का परामर्श है 'इदम् अहम्' ।

५. सद्विद्या अथवा शुद्धविद्यातत्व :

सद्विद्यातत्व में अहम् और इदम् दोनों परामर्श एक समान होते हैं जैसे समावृत तुला के दोनों पलड़े बराबर होते हैं (समाधृततुलापुटन्यायेन) । इस अवस्था में क्रियाशक्ति का प्राधान्य होता है । इस अवस्था में अहम् और इदम् दोनों का परामर्श इस प्रकार समानरूप से स्फुट होता है कि यद्यपि अब भी अहम् और इदम् दोनों एकसम हैं तथापि दोनों की पृथक् विशिष्टता प्रतीत होती है । उस अवस्था का अनुभव भेदाभेदविमर्शनात्मक होता है । अर्थात् यद्यपि इदम् और अहम् से भेद प्रतीत होता है तथापि इदम् अहम् का अंग ही जान पड़ता है । अहम् और इदम् का सामानाधिकरण्य जान पड़ता है ।

शिव तत्त्व में 'अहं' परामर्श है; सदाशिव तत्त्व में 'अहमिदम्' परामर्श है; ईश्वर तत्त्व में 'इदमहं' परामर्श है । इन सब परामर्शों में पहले पद की प्रमुखता होती है । शुद्धविद्यातत्त्व में दोनों पदों का परामर्श समान रूप से होता है (अहम् अहम्, इदम् इदम् अथवा अहं च, इदं च) यह परामर्श पर (अभेद की दशा) और अपर (भेद की दशा) दोनों के मध्य का है । इसलिए इसको परापरदशा कहते हैं । इसको 'सदविद्या या शुद्धविद्या' इसलिए कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में पदार्थों के वास्तविक सम्बन्ध का परामर्श होता है । इस अवस्था तक सभी परामर्श मानसिक या चैत्य होता है । इसलिए यहाँ तक शुद्धाध्वा कहलाता है, क्योंकि यहाँ तक महेश्वर का स्वरूप-गोपन नहीं होता ।

(ii) परिमित अनुभव के तत्त्व : ६-११ माया और उसके पाँच कंचुक :

अब माया तत्त्व का कार्य प्रारम्भ होता है । यहाँ से अशुद्धाध्वा का प्रारम्भ होता है जिसमें महेश्वर का स्वरूप-गोपन होता है । यह स्वरूप-गोपन माया और उसके कंचुकों द्वारा होता है । माया शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है मापना, माप कर पृथक् कर देना, परिमित कर देना । जो अनुभव को मेय या परिमित बना देती है, अहम् को इदम् से और इदम् को अहम् से पृथक् कर देती है, भेद उत्पन्न कर देती है, वस्तुओं को एक दूसरे से भिन्न कर देती है, वह माया है ।

सद्विद्या तक अनुभव सार्वभौमिक होता है, अपरिमित होता है 'इदं' का भाव होता है- 'यह सब कुछ' 'समस्तविश्व' । माया के प्रभावसे 'इदं' का

अर्थ हो जाता है 'केवल यह'' 'अन्य सब वस्तुओं से भिन्न एक परिमित वस्तु'। यहीं माया के द्वारा पूर्ण संकोच या परिमितत्व प्रारम्भ हो जाता है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है और भेद-बुद्धि उत्पन्न कर देती है।

माया के परिणाम पाँच कंचुक हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :—

१. कला—परमेश्वर का स्वरूप गोपित होने पर, अणु बनने पर, जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किंचित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता है उसे 'कला' कहते हैं।

२. विद्या—जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किंचित्ज्ञत्व में परिणत हो जाता है उसे 'विद्या' कहते हैं।

३. राग—जिसके द्वारा परमेश्वर की पूर्णतृप्ति संकुचित होकर यत्किंचित् भागों में आसक्त हो जाती है उसे 'राग' कहते हैं।

४. काल—जिसके द्वारा परमेश्वर का नित्यत्व संकुचित होकर अतीत, वर्तमान-और अनागत में परिच्छिन्न हो जाता है उसे काल कहते हैं।

५. नियति—जिसके द्वारा परमेश्वर का स्वातंत्र्य संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारण का नियम धारण करता है और उसका व्यापकत्व संकुचित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाता है उसे नियति कहते हैं।

(iii) परिमित व्यक्ति या जीवन के तत्त्व-वेदक-वेद्य :

१२ पुरुष

शिव जब कंचुकों सहित माया को स्वीकार कर लेता है तब उसका सार्वभौम ज्ञान और ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है और वह पुरुष या एक परिमित व्यक्ति बन जाता है। पुरुष से तात्पर्य केवल मानवीय व्यक्ति से नहीं है, अपितु प्रत्येक संकुचित वेदन-शील प्राणी से है।

पुरुष को अणु भी कहते हैं। अणु कोई दैशिक बिन्दु नहीं है। महेश्वर के पूर्णत्व के परिमितत्व के कारण ही कोई जीव अणु कहलाता है। "पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वादणुत्वम्।"

१३ प्रकृति

सद्विद्या की 'अहं च इदं च' की जो अनुभूति है उसमें से अहं अंश की अभिव्यक्ति पुरुष है और इदं अंश की अभिव्यक्ति प्रकृति है। त्रिक के अनुसार प्रकृति या प्रधान कला का वेद्यरूप कार्य है। (वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला—**तंत्रालोक, आ० ९**)।

पुरुष वेदक है, प्रकृति वेद्यमात्र है। प्रकृति अपने गुणों की साम्यावस्था में रहती है। प्रकृति की अवधारणा सांख्य और त्रिक की थोड़ी भिन्न है। सांख्य यह मानता है कि प्रकृति एक है और सभी पुरुषों के लिये सामान्य है। त्रिक यह मानता है कि प्रत्येक पुरुष की प्रकृति भिन्न है। प्रकृति वेद्य की योनि है।

प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। प्रकृति शिव की सान्ता शक्ति है और सत्त्व, रजस् और तमस उनकी ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति के स्थूल रूप हैं। पुरुष भोक्ता और प्रकृति भोग्या है।

iv–मानस व्यापार के तत्त्व :

१४–१६ बुद्धि, अहंकार और मनस्

प्रकृति के विशेष हैं—अन्तःकरण, इन्द्रिय और भूत।

अन्तःकरण का अर्थ है आन्तरिक साधन। इसमें बुद्धि, अहंकार और मनस् अन्तर्भूत हैं।

१. बुद्धि–प्रकृति का प्रथम तत्त्व है। यह व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) होती है। बुद्धि के दो प्रकार के अनुभव हैं : (१) बाह्य जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है, जैसे घट (२) आन्तरिक संस्कारों द्वारा उद्भूत कल्पनाएँ।

२. अहंकार–जिसके द्वारा अहं की प्रतीति होती है और सब ग्राह्य या वेद्य अभिमत होते हैं अर्थात् वे अपने माने जाते हैं। अहंकार बुद्धि का परिणाम है।

३. मनस्–यह अहंकार का परिणाम है। यह इन्द्रियों के सहयोग से प्रत्यक्ष का अनुभव करता है और संकल्प-विकल्प करता रहता है।

v–vii–प्रत्यक्ष करने के तत्त्व : १७–३१ :

(क) ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ—ये अहंकार के परिणाम हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१. घ्राणेन्द्रिय २—रसनेन्द्रिय ३—चक्षुरिन्द्रिय ४—स्पर्शनेन्द्रिय, ५—श्रवणेन्द्रिय।

(ख) कर्मेन्द्रियाँ–ये भी अहंकार के परिणाम हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१. वागिन्द्रिय, २–हस्तेन्द्रिय ३–पादेन्द्रिय ४–पायु (इन्द्रिय) ५–उपस्थ (इन्द्रिय)

ये सब इन्द्रियाँ शक्तियाँ हैं जो भिन्न इन्द्रियावयवों द्वारा अपना कार्य करती हैं।

(ग) पंचतन्मात्राएँ—ये भी अहंकार के परिणाम हैं। ये विशेष प्रत्यक्ष के सामान्य तत्त्व हैं :—

१. शब्दतन्मात्र, २—स्पर्शतन्मात्र ३—रूपतन्मात्र ४—रसतन्मात्र, ५—गन्धतन्मात्र।

viii—भौतिक तत्त्व : ३२-३६ : पंचमहाभूत। ये पंचमहाभूत पंचतन्मात्राओं के परिणाम हैं।

(१) शब्दतन्मात्र	का	परिणाम	है आकाश
(२) शब्द और स्पर्शतन्मात्र	,,		,, वायु
(३) शब्द, स्पर्श और रूपतन्मात्र	,,		,, अग्नि या तेज
(४) शब्द, स्पर्श, रूप और रसतन्मात्र	,,		,, आप (जल)
(५) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्र	,,		,, पृथिवी

३. स्वातंत्र्यवाद और आभासवाद :

इस दर्शन में परमार्थ या परमसत् को चित्, परमशिव या महेश्वर कहते हैं। प्रकृति में दिखलाई देनेवाली प्ररचना और विन्यास के आधार पर साधारणतः जो ईश्वरनामक एक आद्य कारण का अनुमान किया जाता है उस अर्थ में इस दर्शन में परमार्थ को महेश्वर नहीं कहते हैं। परम सत् को उसकी इच्छा की निरपेक्ष पूर्ण प्रभुता अथवा स्वातंत्र्य की दृष्टि से महेश्वर कहते हैं।

निरपेक्ष, निर्बाध प्रभुता या स्वातंत्र्य एक अन्ध शक्ति नहीं है। यह चित् का स्वभाव है। यह स्वातंत्र्य ही महेश्वर की कल्पना का वेद्यरूपेण उपस्थापन करता है। यह शक्ति स्वतंत्र इसलिए कहलाती है क्योंकि यह अपने से बाह्य किसी उपादान या उपकरण पर आश्रित नहीं है। यह कुछ भी होने या करने में स्वतंत्र और समर्थ है। यह देश, काल कारण इत्यादि से परे है, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता उसी के द्वारा है।

"चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यम् तदैश्वर्यं परमात्मनः"

(ई० प्र० वि० १, पृ० २०, ३-४)

'महेश्वर की शक्ति चिति कहलाती है। इसका स्वरूप स्वसंवित्ति है। इसे परावाक् भी कहते हैं। यह स्वयं नित्योदित है। यही स्वातंत्र्य है। यही परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है'। परावाक्, विमर्श, ऐश्वर्य इत्यादि स्वातंत्र्य के पर्यायवाची शब्द हैं।

"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः"

(ई० प्र० वि० १,२०७-८)

यह (चिति) वह स्फुरत्ता है जो अपने में विकार-हीन होते हुए सब विकारों की जननी है । यह महासत्ता है, क्योंकि सब कुछ होने में वह स्वतंत्र है । यह देश और काल से परे है । यह परमशिव का हृदय-स्वरूप है ।

स्वातंत्र्य या माहेश्वर्य का भाव है बिना किसी बाह्य उपादान के, बिना किसी बाधा के अपने आप सब कुछ कर डालने का सामर्थ्य ।'

"स्वातंत्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः"

स्वातंत्र्य का भाव है अपनी इच्छा के अनुसार, उस इच्छा के प्रसर में बिना किसी रुकावट के सब कुछ कर डालने का सामर्थ्य ।

स्वातंत्र्यवाद की व्याख्या अभिनवगुप्त ने बहुत सुन्दर शब्दों में इस प्रकार की है ।—"तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपनान्तरीयकस्वातंत्र्यमहिम्ना प्रकाश इति अयं स्वातंत्र्यवादः प्रोन्मीलितः (ई० प्र० वि० वि० पृ० ९)

"इसलिए प्रकाशविमर्शस्वरूप संविद्रूपी परमशिव जिसका कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जो सदा उदित है अपने स्वातंत्र्य के माहात्म्य से ही जो कि संवित् से पृथक् नहीं है रुद्र से लेकर स्थावर तक प्रमाता के रूप में और, सुख इत्यादि प्रमेय के रूप में प्रकट होता है । ये प्रमाता और प्रमेय उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति भासित होते हैं, किन्तु ये उसके स्वरूप को कभी ढक नहीं सकते । इस प्रकार स्वातंत्र्यवाद का प्रस्तुतीकरण किया गया है ।

आभासवाद

महेश्वर के सर्जन की दृष्टि से यह दर्शन स्वातंत्र्यवाद कहलाता है, उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यह आभासवाद कहलाता है ।

जैसे मयूर का सुन्दर रंग-विरंगा पिच्छकलाप (पंख) उसके अंडे के रस में अविभिन्नरूप में निहित रहता है, वैसे ही समस्त विश्व महेश्वर में अविभिन्न रूप से विद्यमान रहता है । इस सादृश्य को इस दर्शन में मयूराण्डरसन्याय कहते हैं ।

समस्त विश्व का अधिष्ठान चित् या संवित है । चित्र-विचित्र, सदा परिवर्तनशील आभास उसी चित् के आविर्भाव मात्र हैं । जो कुछ भी किसी भी रूप में प्रकट है, चाहे प्रमेय के रूप में, चाहे प्रमाता के रूप में, चाहे ज्ञान के रूप में, चाहे ज्ञान के साधन या इन्द्रियों के रूप में, वह सब कुछ उसी परमचित् का 'आभास' मात्र है । 'आभास' का अर्थ है 'आ' (ईषद् अर्थात् संकुचित रूप में)

'भासः' (प्रकाशन) 'कुछ संकुचित रूप में भासन या प्रकाशन' आभास कहलाता है। सभी प्रकार का आविर्भाव परिसीमित होता है। जो कुछ भी विद्यमान है वह आभासों का विन्यास मात्र है।

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्॥

(परमार्थसार श्लो० १२, १३)।

जैसे स्वच्छ दर्पण में चित्र-विचित्र नगर, ग्राम इत्यादि के प्रतिबिम्ब दर्पण से अभिन्न होते हुए भी, परस्पर और दर्पण से भी भिन्न भासित होते हैं, वैसे ही यह जगत् परमशिव के विमल संवित् से अभिन्न होते हुए भी परस्पर और उस संवित् से भी भिन्न भासित होता है।

आभास दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों के समान हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब उससे भिन्न नहीं किन्तु भिन्न भासित होता है, इसी प्रकार आभास भी शिव से भिन्न नहीं हैं किन्तु भिन्न भासित होते हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर, ग्राम, नदी, वृक्ष इत्यादि यद्यपि दर्पण से अभिन्न हैं तथापि उससे भिन्न भासित होते हैं, उसी प्रकार महेश्वर के संवित् में प्रतिबिम्बित जगत् उससे भिन्न नहीं है। इस दर्पण की उपमा में दो अपवाद माननीय हैं।

(१) दर्पण में कोई बाह्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है। महेश्वर की सार्वभौम चेतना में उसी की ही सृष्टिकल्पना प्रतिबिम्बित होती है, कोई बाह्य पदार्थ नहीं। दर्पण में एक बाह्य प्रकाश के द्वारा ही प्रतिबिम्ब सम्भव है, महेश्वर की सार्वभौम चेतना स्वयं अपना प्रकाश है, वह सब प्रकाशों का प्रकाश है, उसे किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।

(२) दर्पण अचेतन है। उसे अपने भीतर के प्रतिबिम्बों का बोध नहीं है, किन्तु महेश्वर तो चेतन है। उसकी चेतना में जो प्रतिबिम्बवत् कल्पनाएँ प्रकट होती हैं उनका उसको पूरा बोध रहता है। आभास जो कि पशु या परिच्छिन्न जीवों को बाह्य रूप में प्रतीत होते हैं परम चेतना की कल्पनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥

(प० सा० में योगराज द्वारा उद्धृत पृ० १९)

जैसे चित्र-विचित्र पदार्थ दर्पण के भीतर प्रकट होते हैं, वैसे ही परम संवित् में जगत् प्रकट होता है। किन्तु परमसंवित् को विमर्शशक्ति के द्वारा उसका बोध रहता है, दर्पण में उस प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थ का बोध नहीं रहता।

समुद्र में तरंग के समान चेतना में आभास उठते हैं। जैसे तरंगों के उत्थान और पतन से, समुद्र को न तो कोई लाभ है, न हानि, वैसे ही आभासों के उत्थान और पतन से परम चेतना को न कोई लाभ है, न हानि। आभास प्रकट और लीन होते रहते हैं, किन्तु उनकी अधिष्ठानरूपी चेतना में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता।

आभास महेश्वर की कल्पनाओं का बहिः प्रक्षेप मात्र हैं।

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

(ई० प्र० वि० पृ० १८५)

चित्स्वरूप देव अन्तःस्थित पदार्थ समूह को अपनी इच्छा द्वारा बाहर प्रकाशित करता है जैसे योगी (संकल्प द्वारा कोई वस्तु बाहर आभासित कर देता है)।

जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर बर्तन बनाता है उस प्रकार महेश्वर सृष्टि नहीं करता। सृष्टि का केवल अर्थ है अन्तःस्थित कल्पनाओं को बाहर आभासित कर देना। महेश्वर को इसके लिए किसी बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी इच्छा द्वारा ही ऐसा करने में समर्थ है। जो पदार्थ महेश्वर के ज्ञानस्वरूप हैं वे उसकी इच्छा से ज्ञेय के रूप में प्रकट होते हैं, जो उसके अहं स्वरूप हैं वे इदं या विश्व के रूप में प्रकट होते हैं। जीवों को वे बाह्य रूप में आभासित होते हैं।

चित्स्वरूप महेश्वर ही प्रमाता और प्रमेयों के रूप में आभासित होता है। इसलिए आभास मिथ्या नहीं कहे जा सकते। आभास महेश्वर की पूर्णता में कोई अन्तर नहीं ला सकता।

इस दर्शन का स्वातंत्र्यवाद विवर्तवाद के विपरीत है, और आभासवाद परिणामवाद के विपरीत है।

४. षडध्वा :

परा-शक्ति की दृष्टि से, इस दर्शन में सृष्टि का वर्णन निम्न प्रकार से किया जाता है। सृष्टि के मूल में एक असीम प्रभविष्णुता या शक्ति का अटूट क्रम है जिसे नाद कहते हैं। यह एक क्रियाशील बिन्दु में घनीभूत हो जाता है। यही सब अभिव्यक्ति या सृष्टि का मूल है। सृष्टि की परावस्था में वाचक और वाच्य, पद

और अर्थ एक हैं। उसके अनन्तर सृष्टि का छः अध्वा या अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें षडध्वा कहते हैं। प्रथम अध्वा वर्ण और कला का है। वैसे मुख्यतः कला परमार्थ या अनुत्तर का वह प्ररूप है जिसके द्वारा वह सृष्टि के लिए शक्तिरूप में प्रकट होती है। परमशिव की विश्वोत्तीर्ण अवस्था निष्कल कही जाती है, क्योंकि वह कला या सृष्टि के प्राकट्य से परे है। शिव की विश्वमय अवस्था सकल कही जाती है, क्योंकि वह सृष्टि से सम्बद्ध है।

किन्तु इस संदर्भ में नाद-बिन्दु के अनन्तर जो कला का प्रयोग है उसका अर्थ है सृष्टि की एक 'क्रमावस्था'। कला वह अवस्था है जहाँ कि एक के अनन्तर असदृशता या विभेद प्रकट होने लगता है। परावाक् में वाचक और वाच्य एक थे, वे अब द्वन्द्व भाव में विभिन्न होने लगते हैं। इस द्वन्द्वभाव या विभिन्नता का पहला अध्वा है वर्ण और कला की विपरीतता। स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने अपने एक लेख में बहुत ठीक कहा है कि इस सन्दर्भ में वर्ण का अर्थ अक्षर, रंग या वर्ग नहीं है, प्रत्युत बिन्दु से जो वेद्य या अर्थ प्रक्षिप्त होता है उसका एक प्रक्रियारूप है। इस लिए वर्ण का भाव है 'अर्थ से सम्बद्ध प्रक्रिया-रूप का विशिष्ट मान-अभिसूचक' (measure index ;"। वर्ण प्रक्रिया-रूप (function-form) है, कला विधेय-धर्म (predicable) है।

सूक्ष्म भूमि में परवर्ती अध्वा मंत्र और तत्त्व है। मंत्र सृष्टि के अगले क्रम 'तत्त्व' का उपयुक्त 'प्रक्रिया-रूप' या 'आधारात्मक व्यवस्था' है। 'तत्त्व' सूक्ष्म निर्मिति का अन्तर्निहित सूत्र या उत्स है।

तीसरा और अन्तिम द्वन्द्व 'पद' और 'भुवन' का है। 'भुवन' भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्रमाताओं की प्रतीति के योग्य जगत् है। 'पद' उस जगत् की मानसिक प्रतिक्रिया और शब्द द्वारा वास्तविक निरूपण है।

निम्नलिखित सारणी में षडध्वा संक्षेपतः इस प्रकार रखा जा सकता है।

वाचक	**वाच्य**
वर्ण	**कला**
मंत्र	**तत्त्व**
पद	**भुवन**

वाचक की ओर के त्रिक को 'कालाध्वा' कहते हैं, वाच्य की ओर के त्रिक को 'देशाध्वा' कहते हैं।

'वर्णाध्वा' प्रमास्वरूप है। वह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का विश्रान्तिधाम है। वर्ण दो प्रकार का होता है। अमायीय और मायीय। मायीय वर्ण अमायीय के

उत्पन्न होते हैं। अमायीय वर्ण अकृत्रिम, संकोच रहित और अनन्त होते हैं। मायीय वर्णों में अमायीय वर्णों की वाचक शक्ति उसी प्रकार निहित रहती है जैसे अग्नि में उष्णता।

कला पाँच हैं—१. निवृत्तिकला, २. प्रतिष्ठाकला, ३. विद्याकला, ४. शान्ता या शान्तिकला, ५. शान्त्यतीताकला।

प्रत्येक कला में कितने तत्त्व और भुवन हैं इसके लिए टिप्पणी १७४ से संलग्न रेखा चित्र को देखिए। अभिनवगुप्त के अनुसार ११८ भुवन हैं; कुछ और मत के अनुसार २२४ भुवन हैं।

५. शांकर अद्वैतवाद के साथ ईश्वराद्वयवाद (प्रत्यभिज्ञादर्शन) की तुलना :

श्री शंकराचार्य के दर्शन को अद्वैत शैववाद में प्रायः शान्तब्रह्मवाद, अथवा केवलाद्वैतवाद अथवा कभी-कभी मायावेदान्तवाद कहते हैं। अद्वैत शैववाद के ईश्वराद्वयवाद, प्रत्यभिज्ञादर्शन, या त्रिकदर्शन ये नाम प्रसिद्ध हैं।

शंकराचार्य यह मानते हैं कि ब्रह्म निष्क्रिय है। अतः अद्वैत शैववाद शंकराचार्य के दर्शन को शान्तब्रह्मवाद कहता है।

शान्तब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद का प्रथम मुख्य भेद यह है कि शान्तब्रह्मवाद के अनुसार चित् या ब्रह्म का वैशिष्ट्य है प्रकाश या ज्ञान, जब कि ईश्वराद्वयवाद के अनुसार चित् 'प्रकाश-विमर्श' स्वरूप है। दूसरे शब्दों में शंकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान मात्र है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार उसका वैशिष्ट्य ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों है। शंकर समझते हैं कि क्रिया केवल जीव का धर्म है, ब्रह्म में क्रिया नहीं है। शंकर ने क्रिया शब्द को बहुत ही संकुचित अर्थ में लिया है। शैव दर्शन कर्तृत्व को बहुत व्यापक अर्थ में लेता है; इसके अनुसार ज्ञान भी प्रभु की एक क्रिया है। कर्तृत्व के बिना चित् या परमेश्वर जड़ के समान हो जायगा और कुछ भी घटित नहीं कर सकता। परशिव या परमेश्वर स्वतंत्र है, इसीलिए वह कर्ता है। पाणिनि ने ठीक ही कहा है 'स्वतंत्रः कर्ता' जो स्वतंत्र होता है, वही कर्ता होता है। स्वातंत्र्य और कर्तृत्व प्रायः एक ही अर्थ के बोधक हैं।

शान्तब्रह्मवाद के अनुसार ब्रह्म बिलकुल शान्त है, निष्क्रिय है। जब ब्रह्म अविद्या से उपहित हो जाता है, तब वह ईश्वर कहलाता है और तभी उसमें कर्तृत्व आता है। वास्तविक कर्तृत्व अविद्या का है। ईश्वर जब अविद्या से अनुपहित रहता है, तब उसमें कोई कर्तृत्व नहीं रहता। शंकर स्पष्ट रूप से कहते हैं "तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमीश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च, न परमार्थतो

विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यत्वादिव्यवहार उपपद्यते"। (२-१-१४) अर्थात् ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व उसकी अविद्या उपाधि-जन्य परिमितता पर अवलम्बित है। परमार्थ में जब विद्या के द्वारा आत्मा में से सभी उपाधियाँ निरस्त हो जाती हैं तब उसके लिए ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार उपयुक्त नहीं हो सकता। तो शंकर के अनुसार ईश्वर में जो कुछ कर्तृत्व है, वह अविद्या के कारण है।

इसके विपरीत, ईश्वराद्वयवाद के अनुसार ज्ञातृत्व और कर्तृत्व परमेश्वर का स्वरूप ही है। कर्तृत्व के बिना परमेश्वर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस दर्शन में शांकर वेदान्त के समान कर्तृत्व ईश्वर की उपाधि नहीं है, प्रत्युत उसका स्वरूप ही है। संक्षेपतः उसके कर्तृत्व को हम उसके पंचकृत्य में संगृहीत कर सकते हैं। वह पंचकृत्य है सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह। उसका यह पंचकृत्य सदा चलता रहता है। जब वह जीव का रूप धारण करता है तब भी उसका उपर्युक्त पंचकृत्य बराबर चलता रहता है। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार शिव सदा पंचकृत्यकारी है। शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निष्क्रिय है। महेश्वरानन्द का कहना है कि निष्क्रिय ब्रह्म तो असत् के समान हो जायेगा। "तथाहि परमेश्वरस्य ह्ययमेवासाधारणस्वभावो यत् सर्वदा सृष्ट्यादिपंचकृत्यकारित्वम्। एतदनंगीकाराद्धि मायावेदान्तादिनिर्णीतस्यात्मनः स्वस्फुरणामोदमान्द्यलक्षणमसत्कल्पत्वमापतितम्"। (म० म० पृ० ५२) अर्थात् परमेश्वर का यही असाधारण स्वभाव है कि वह सदा सृष्टि इत्यादि पंचकृत्य करता रहता है। यदि यह स्वीकार न किया जाय तो मायावेदान्तादि द्वारा निर्णीत आत्मा अपने स्फुरण का पता न होने से असत् के समान हो जायगा।

ईश्वराद्वयवाद भी अविद्या और माया को मानता है, किन्तु उसके अनुसार अविद्या या माया कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ईश्वर को ग्रस्त कर लेती है, प्रत्युत वह अपने स्वातंत्र्य द्वारा, अपनी ही शक्ति द्वारा, अपनेही द्वारा आरोपित आत्म-संकोच है। शंकर के अनुसार ब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है, जो कुछ कर्तृत्व है वह सब अविद्या अथवा तज्जन्य माया का है। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार सब कर्तृत्व ईश्वर का है, माया भी उसी के कर्तृत्व का एक प्ररूप है।

शान्त ब्रह्मवाद के अनुसार माया अनिर्वचनीय है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार माया शिव की शक्ति होने के कारण यथार्थ है और नानात्व और भेद-दृष्टि उत्पन्न करती है।

शान्तब्रह्मवाद के अनुसार जगत् मिथ्या है, किन्तु ईश्वराद्वयवाद के अनुसार जगत् सत्य है, वह ईश्वर की शक्ति का विलास है। यतः शक्ति यथार्थ है, अतः

शक्ति द्वारा घटित विश्व भी यथार्थ है। शंकर माया को सत् और असत् दोनों से अनिर्वचनीय मानते हैं। (सदसद्भ्यामनिर्वचनीया), अतः उनका अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक (exclusive) है, अनुवृत्तिमूलक (allinclusive) नहीं है। ईश्वराद्वयवाद माया को शिवमयी (शिव का ही प्ररूप) मानता है। अतः शैव अद्वैतवाद पूर्ण है, सर्वसंग्राही और अनुवृत्तिमूलक है। जैसा कि शंकर मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है और माया अन्ततोगत्वा असत्य है, यदि यह शांकर वेदान्त का आधारभूत मत है तो उनके दर्शन में द्वैताभास अनिवार्य हो जायगा।

शंकर के विवर्तवाद के अनुसार जगत् में जो कुछ है वह सब नामरूप है और वस्तुतः सत्य नहीं समझा जा सकता। ईश्वराद्वयवाद के अनुसार, आभास परमशिव की कल्पना या अनुभव होने के कारण सत्य हैं। यद्यपि वे परमशिव में उसी रूप में नहीं रहते जिस रूप में परिमित प्रमाता या जीव उनका अनुभव करते हैं, तथापि वे परमशिव के अनुभव या कल्पना के रूप में उसमें विद्यमान रहते हैं। इसलिए वे वस्तुतः यथार्थ हैं। जो परमशिव का अनुभव या प्रत्ययन है वह असत्य नहीं हो सकता।

ईश्वराद्वयवाद के अनुसार जीव की अवस्था में भी शिव या आत्मा का पंचकृत्य चलता रहता है। शान्तब्रह्मवाद के अनुसार जीव में भी आत्मा निष्क्रिय रहता है, जो कुछ क्रिया होती है वह बुद्धि की होती है।

शंकर के अनुसार मुक्ति में जगत् निरस्त हो जाता है। शैवदर्शन के अनुसार मुक्ति में जगत् शिवचेतना के स्फुरण या आत्मचेतना के चमत्कार के रूप में प्रतीत होता है।

संक्षेप में हम दोनों दर्शनों के मत को एक सारणी में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं :—

शान्तब्रह्मवाद	**ईश्वराद्वयवाद**
१–चित् या ब्रह्म या प्रकाश ज्ञान मात्र है। चित् निष्क्रिय है।	१–चित् प्रकाश-विमर्शमय है। अतः उसमें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व दोनों हैं। उसमें पंचकृत्य होता रहता है।
२–क्रिया अविद्या या माया का कार्य है। माया या अविद्या से उपहित होने पर ही ईश्वर क्रियावान् होता है।	२–महेश्वर में स्वातंत्र्य है। इसलिए उसमें कर्तृत्व है। माया महेश्वर से कोई पृथक् वस्तु नहीं है जिससे वह उपहित हो जाता है। माया महेश्वर की ही शक्ति है जिसके द्वारा नानात्व और भेद घटित होते हैं।

शान्तब्रह्मवाद	ईश्वराद्वयवाद
३—माया अनिर्वचनीय है।	३–माया महेश्वर की शक्ति होने के कारण सत्य है।
४—माया अनिर्वचनीय होने के कारण ईश्वर से असंहत या शिथिल रूप से सम्बद्ध है और अन्ततोगत्वा असत्य है। माया कुछ पृथक् तत्त्व जैसी लगती है। अतः शंकर का अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक है।	४–माया शिवमयी या चिन्मयी है। वह शिवकी निजी शक्ति है। वह पृथक् तत्त्व नहीं है। इसलिए शैव अद्वैतवाद सर्वसंग्राही और पूर्ण है। जीव दशा में भी शिव का पंचकृत्य कभी बन्द नहीं होता।
५—जगत् मिथ्या है। विश्व केवल नामरूप है, अतः वह वस्तुतः सत्य नहीं है।	५–विश्व शिवरूप है, अतः सत्य है। यह महेश्वर का वैभव है। आभास शिव की परिकल्पना हैं, इसलिए वे असत्य नहीं हो सकते।
६—जीव दशा में भी आत्मा निष्क्रिय है। क्रिया केवल बुद्धि में है।	६–जीव दशा में भी शिवका पंचकृत्य कभी बन्द नहीं होता।
७—मोक्षावस्था में विश्व निरस्त हो जाता है।	७–मोक्षावस्था में विश्व शिव-चेतना या अकृत्रिम अहं-चेतना के रूप में प्रतीत होता है।
८—शांकर वेदान्त के अनुसार अविद्या विद्या के द्वारा निरस्त हो जाती है, तब मुक्तिलाभ होता है। विद्या प्राप्त होती है श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा।	८–अद्वैत शैववाद के अनुसार अविद्या या अज्ञान दो प्रकार का है–बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। बौद्ध अज्ञान बुद्धिगत है। पौरुष अज्ञान स्वरूपगत है। विद्या से केवल बौद्ध अज्ञान निरस्त होगा। पौरुष अज्ञान फिर भी शेष रह जायगा। ऐसा व्यक्ति कोरी शून्यावस्था में पतित होगा। उसे शिवत्वलाभ नहीं हो सकता। पौरुष अज्ञान का भी निरसन आवश्यक है। पौरुष अज्ञान केवल शक्तिपात द्वारा ही अपसारित हो सकता है। शक्तिपात या तो सिद्ध गुरु के द्वारा या साक्षात् भगवदनुग्रह के द्वारा हो सकता है।

६. जीव :

इस दर्शन के अनुसार जीव मन और शरीर का पुतला मात्र नहीं है। वह कुछ और भी है। उसका शरीर पञ्च महाभूतों का बना होता है। इसे स्थूल शरीर कहते हैं। उसके भीतर मन बुद्धि और अहंकार युक्त एक अन्तःकरण भी होता है।

मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ इन आठ के समुदाय को 'पुर्यष्टक' कहते हैं। यह सूक्ष्मशरीर है। मृत्यु के समय जीव इस सूक्ष्मशरीर में रहता हुआ स्थूलशरीर को छोड़ता है।

उसके भीतर प्राणशक्ति भी होती है। यह ईश्वरीय शक्ति है जो विश्व और जीव दोनों में काम करती रहती है। मानव के भीतर कुण्डलिनी शक्ति भी है जो उसमें सुप्तावस्था में रहती है।

सब का केन्द्रभूत शिव या चैतन्य है जो कि उसका आत्मा है। यद्यपि वस्तुतः उसका आत्मा शिव ही है, तथापि वह आणव मल के कारण परिसीमित या अणु के रूप में उसमें रहता है।

७. बन्ध :

जीवन का बन्ध जन्मजात अख्याति या अविद्या के कारण है जिसे आणव मल कहते हैं। यह मल वह आद्य अवच्छेदक उपबन्ध है जिसके द्वारा सर्वव्यापी चैतन्य एक अणु या परिसीमित दशा में आता है। यह दशा महेश्वर की इच्छाशक्ति के संकोच से होती है। इसी के कारण जीव अपने को सर्वव्यापी चैतन्य से भिन्न एक पृथक् व्यक्ति समझने लगता है। यह आत्मपरिच्छेद की चेतना है।

८. मोक्ष :

इस दर्शन में मोक्ष का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा। दूसरे शब्दों में अकृत्रिम अहं–विमर्श का उदय मोक्ष है। अकृत्रिम अहं विमर्श क्या है यह उत्पलदेव के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जायगा।

"अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः, स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः।"

(ई० प्र० १:६१)

शुद्ध अहंविमर्श विकल्प नहीं है, क्योंकि विकल्प द्वयापेक्षी या सापेक्ष होता है। साधारणतः अहंविमर्श या आत्म-बोध अनात्म की विपरीतता की अपेक्षा से होता है। शुद्ध अहं-विमर्श इस प्रकार सापेक्ष नहीं होता। वह एक अव्यवहित अपरोक्षानुभूति है। जब इस प्रकार की अनुभूति होती है तभी अपने वास्तविक

स्वरूप का बोध होता है। यह वास्तविक स्वरूप का बोध ही मोक्ष है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है :—

"मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत्"

(तं० आ० १, पृ० १९२)

मोक्ष और कुछ नहीं है, केवल अपने स्वरूप का उन्मेष ही मोक्ष है।

वास्तविक शुद्ध अहं-विमर्श से चिदानन्द का लाभ होता है। चित् ही अब चित् या चिति में परिणत हो जाता है। (दे० प्र० हृ० सूत्र १३) शुद्ध अहं-विमर्श के लाभ होने से शिव-चेतना का उदय होता है जिसमें सारा विश्व शिवमय या शुद्ध अहंमय प्रतीत होता है।

इस दर्शन के अनुसार सर्वोच्च आनन्द जगदानन्द है जिसमें सारा विश्व चित् या शिव प्रतीत होता है। यह मोक्ष तर्क छांटने या बौद्धिक आतिशबाज़ी से नहीं प्राप्त हो सकता। यह शक्तिपात या अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।

शक्तिपात या अनुग्रह :

जो जीव पूर्वजन्म के संस्कार से उन्नत अवस्था को पहुँचे हुए हैं वे तीव्र शक्तिपात के अधिकारी होते हैं। वे बिना किसी विशेष साधना के मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जो जीव उनसे कम विकसित होते हैं वे **मध्यम** शक्तिपात के अधिकारी होते हैं। इस शक्तिपात से वे गुरु की खोज करते हैं और उनसे दीक्षा प्राप्त कर साधना करते हैं। उचित समय में वे मुक्त हो जाते हैं।

वे जीव जो उनसे भी कम विकसित होते हैं **मन्द** शक्तिपात के अधिकारी होते हैं। इससे उनमें आध्यात्मिक ज्ञान और साधना के लिए उत्कण्ठा जाग्रत् होती है और वे भी समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

उपाय :

अनुग्रह यों ही नहीं हो जाया करता। यह नैतिक और आध्यात्मिक साधना द्वारा अर्जित किया जाता है। अनुग्रह अर्जन करने के चार मुख्य उपाय हैं :—

अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय। ये उपाय मल को निरस्त करने के लिए हैं जिनसे साधक अनुग्रह की प्राप्ति के योग्य बनता है।

अनुपाय :

अनुपाय को शब्दतः उपाय कहना कठिन है। यह सर्वथा अनुग्रह पर आश्रित है। गुरु के एक शब्द से शक्तिपात हो सकता है और साधक को ऐसा प्रकाश मिल सकता है जिससे क्षण भर में उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाय। अथवा प्रभु के अनुग्रह

की उस पर सीधे बौछार हो सकती है जिससे उसे तत्काल आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

अनुपाय में जो अन् उपसर्ग है उसका ईषत् अर्थात् अत्यन्त अल्प भी अर्थ होता है। इस अर्थ के अनुसार अनुपाय का भाव है साधक के द्वारा अत्यन्त अल्प अथवा नाम मात्र का प्रयत्न।

दोनों ही अर्थों में अनुपाय का भाव है **तीव्रतम** शक्तिपात के द्वारा साक्षात्कार। कभी-कभी एक सिद्ध पुरुष के दर्शन मात्र से साधक को प्रकाश मिल जाता है और वह रूपान्तरित हो जाता है।

अनुपाय साधारणतः **आनन्दोपाय** कहा जाता है।

आणवोपाय वह उपाय है जिसमें साधक अपने करणों का आत्मसाक्षात्कार के लिए उपयोग करता है। इसमें प्राणायाम, इष्टदेव की पूजा इत्यादि साधनों का प्रयोग होता है। अन्ततः मध्यधाम या सुषुम्ना के उन्मीलन से आत्मसाक्षात्कार होता है। इसको **क्रियोपाय** भी कहते हैं क्योंकि क्रिया, जैसे किसी मंत्र का जप, पूजा इत्यादि, इस साधना का प्रधान अंग है। इसे **भेदोपाय** भी कहते हैं क्योंकि भेद के आधार पर यह साधना प्रतिष्ठित है।

शाक्तोपाय उन मानसिक साधनों पर प्रतिष्ठित है जिनसे उन आन्तरिक शक्तियों का विकास होता है जिसके द्वारा साधक समावेश लाभ करता है। इस उपाय में विशेष कर मंत्रशक्ति का उपयोग होता है जिससे साधक को प्रातिभ ज्ञान हो जाता है। क्रमशः उसका द्वैतभाव कम होने लगता है और उसकी चेतना परासंविद् में निमग्न हो जाती है। इस साधना में "मैं शिव हूँ," "विश्व मेरे आत्मा का प्रसर है"—इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है।

आणवोपाय में इन्द्रियाँ, प्राण और मन की साधना करनी पड़ती है। शाक्तोपाय मुख्यतः मन की साधना है। शाक्तोपाय को **ज्ञानोपाय** भी कहते हैं, क्योंकि मानसिक साधना इसका मुख्य अंग है। इसको **भेदाभेदोपाय** भी कहते हैं क्योंकि इसमें भेदबुद्धि और तादात्म्यबुद्धि दोनों का प्रयोग है। इस उपाय से, बिना विशेष प्रयास के कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मूलाधार से ऊपर की ओर उठती है और आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न कर देती है।

शाम्भवोपाय प्रौढ़ और उन्नत साधकों के लिए है जो शिवतत्त्व का निदिध्यासन करने से शिव-चेतना-युक्त हो जाते हैं। यह एक अनवरत अभिज्ञता और जागरूकता का मार्ग है। साधक पहले पंचकृत्य पर मनन करता है, फिर विकल्पक्षय की साधना करता है और इस विचार पर मनन करने का अभ्यास करता है कि

विश्व केवल चित् का प्रतिफलन है। अन्त में वह इन साधनाओं का भी त्याग कर देता है और शुद्ध, अकृत्रिम अहं-विमर्श को प्राप्त करता है।

क्षेमराज का कहना है कि मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। उपर्युक्त तीनों उपायों की दृष्टि से मध्य का अलग-अलग भाव है। आणवोपाय की दृष्टि से मध्य सुषुम्ना नाड़ी है जिसका विकास करना है। शाक्तोपाय की दृष्टि से मध्य परासंविद् है जिसे प्राप्त करना है। शाम्भवोपाय की दृष्टि से मध्य शुद्ध, अकृत्रिम अहं है जो कि सब कुछ का मध्य या केन्द्र है। उपर्युक्त उपायों से मध्य को ही प्राप्त करना है।

मध्य के विकास के लिए क्षेमराज ने विकल्पक्षय, शक्तिसंकोच, शक्तिविकास वाहच्छेद और आद्यन्तकोटि के अभ्यास की अनुशंसा की है। (दे० सू० १८) इनमें से विकल्प-क्षय शाम्भवोपाय है, शक्तिसंकोच, शक्ति-विकास शाक्तोपाय है और वाहच्छेद और आद्यन्तकोटिनिभालन आणवोपाय है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन पंचकृत्य के मनन और विकल्पक्षय के अभ्यास को अत्यन्त गुरुत्व प्रदान करता है। इसका मत है कि शिव का पंचकृत्य-सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह-जीव में भी सदा चलता रहता है। साधक को उच्च चेतना प्राप्त करने के लिए पंचकृत्य के गुह्य भाव पर सदा मनन करना चाहिए। जीव नियतदेशकालादि में नील इत्यादि का जो प्रत्यक्ष करता है वह सृष्टि है। नीलादि आभास का नैरन्तर्य स्थिति है। अहं भाव के आनन्द-विमर्शन के समय उस आभास का संहार है। जब संहृत होने पर भी संस्कारवश उसका आभास होने लगता है, तब विलय की दशा है। जब हठपाक क्रम से वह चित् में विलीन हो जाता है, तब अनुग्रह की दशा है (दे० सूत्र ११)। इस अभ्यास से साधक शुद्ध चिदानन्द का अधिकारी हो जाता है।

एक अन्य विधि विकल्प-क्षय की है। चित्त नाना प्रकार की वृत्तियों का आखेट-स्थल है जो कि एक दूसरे के बाद समुद्र पर लहर के समान उठती रहती हैं। हम इन्हीं वृत्तियों में उलझे रहते हैं। उनके पीछे शान्त चेतना का जो स्तर है उसका हमको पता भी नहीं होता। विकल्पक्षय का अभ्यास क्षोभ से मुक्त होने और उस अधःस्थ चेतना की प्राप्ति के लिए बतलाया गया है जिसके ऊपरी तल पर विकल्प विहार करते रहते हैं। यह उपलब्धि हठात् नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तियों के हठपूर्वक निरोध से केवल प्रतिरोध खड़ा होता है। यह स्थिति केवल सावधान निश्चेष्टता द्वारा, अकिंचिच्चिन्तकत्व सहित सावधानता द्वारा प्राप्त हो सकती है।

इन साधनाओं के द्वारा **समावेश** की प्राप्ति होती है। इस समावेश को समग्र और परिपूर्ण और स्थायी करने के लिए **क्रममुद्रा** की साधना करनी पड़ती है।

क्रममुद्रा द्वारा जीव की चेतना का सर्वव्यापी चेतना से तादात्म्य के अनुभव को जगत् के अनुभव में भी समन्वित करना पड़ता है। यह दर्शन उस समावेश को परिपूर्ण नहीं मानता जो केवल समाधि की अवस्था में रहता है और व्युत्थान में लुप्त हो जाता है। इस दर्शन की धारणा यह है कि वही पूर्ण समावेश है जो व्युत्थान-दशा में भी अविचलित रहता है और जिसके द्वारा जगत् केवल मृण्मय नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत दिव्यप्रकाश के परिधान से समलंकृत दीख पड़ता है। वह सर्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति और विलास प्रतीत होता है और स्वयं साधक भी यही अनुभव करता है कि मैं भी वही चेतना हूँ। तब जगत् परिहार का विषय नहीं रह जाता प्रत्युत आनन्द का विषय (जगदानन्द) बन जाता है। तब वास्तविक अकृत्रिम अहं-विमर्शका उदय होता है जिसमें जगत् प्रतियोगी की भाँति नहीं प्रत्युत अहं की अभिव्यक्ति की भाँति प्रतीत होता है।

इस दर्शन में जीवन्मुक्ति की यही अवधारणा है। जगत् का उदय शिव के शुद्ध अहविमर्श से होता है। मानव की अवस्था में उस अहं-विमर्श का तादात्म्य अन्न-प्राण-मनोमयकोशों से हो जाता है और जगत् उस अहं का सर्वथा प्रतियोगी प्रतीत होता है। मानव का कर्त्तव्य है पुनः उस अहं-विमर्श को प्राप्त करना जिसमें अहं और इदं एक ही है।

निस्सन्देह यह अवस्था एकाएक नहीं प्राप्त हो सकती। इस दर्शन के अनुसार प्रमाताओं का उच्चावच स्तर है। विवर्तन प्रक्रिया में मानव क्रमशः माया-प्रमाता की अवस्था से ऊपर उठते हुए शिव के शुद्ध अहं-विमर्श की अवस्था को पहुँच जाता है।

सामान्य जीव **सकल** कहलाता है। उसमें कार्म, मायीय और आणव तीनों मल होते हैं। कई जन्मों के अनन्तर जिसमें कि वह भौतिक और मानसिक शक्तियों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कृत्य करता रहता है, वह एक मानसिक व्यथा से ग्रस्त हो उठता है जिसके कारण वह जीवन का 'कहांसे' और 'किधर' जानने का चेष्टा करता है। यह शिव के अनुग्रह की प्रथम अभिव्यक्ति है।

यदि वह पर्याप्त रूप से सावधान नहीं रहता और अवाञ्छनीय प्रकार के योग का अभ्यास करता है, तो वह **प्रलयाकल** हो जा सकता है। प्रलयाकल कार्म-मल से मुक्त होता है। उसमें केवल मायीय और आणव मल होता है, किन्तु उसमें न ज्ञान होता है न क्रिया। यह वाञ्छनीय अवस्था नहीं है। प्रलय के समय तो प्रत्येक सकल 'प्रलयाकल' हो जाता है।

विज्ञानाकल एक अधिक उच्च अवस्था का साधक है वह माया से ऊपर उठ गया है, किन्तु शुद्ध विद्या के नीचे है। वह कार्म और मायीयमल से मुक्त है,

किन्तु अभी उसमें आणव मल विद्यमान है । उसमें ज्ञान और इच्छा होती है, किन्तु क्रिया नहीं होती ।

विज्ञानाकल के ऊपर मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर और शिवप्रमाता होते हैं जिनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है। ये सभी मलों से मुक्त होते हैं, किन्तु इनमें एकत्वचेतना का न्यूनाधिक मात्रा में अनुभव रहता है। (विशेष विवरण के लिए टि० सं० ३९ में दी हुई सारिणी देखिए) केवल शिवप्रमाता को प्रत्येक वस्तु शिव ही प्रतीत होती है ।

शुद्ध अहं–चेतना अथवा विमर्श ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया का मूल अथवा उद्गम स्थल है। शिव की शुद्ध अहं-चेतना ही से निमेष अथवा तिरोभाव प्रारम्भ होता है। उन्मेष अथवा आविर्भाव पुनः उसी शुद्ध अहं-चेतना की ओर पहुँचता है । अब जीवन-पथिक स्वदेश को लौट आता है, किन्तु मार्ग में शिव के अद्भुत वैभव के अनुभव से समृद्ध होकर। एक एक करके आवरण हटता जाता है और अन्ततः वह परमतत्त्व के हृदय में स्थित हो जाता है। अब उसके मुख से अभिनवगुप्त के शब्दों में यह उद्गार निकल पड़ता है।

स्वतंत्रः स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतसि शिवः
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता ।
तदा भोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदम्
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति ॥
(महेश्वरानन्द द्वारा महार्थमंजरी में उद्धृत, पृ० २५).

"स्वातंत्र्य से परिपूर्ण स्वच्छस्वरूप शिव ही मेरी चेतना में सदा स्फुरित होता रहता है। परा शक्ति ही मेरे इन्द्रियों के प्रान्त में क्रीडा करती रहती है तो फिर यह समस्त जगत् शुद्ध अहं-चेतना के चमत्कार से स्फुरित होता रहता है। न जाने कहां से संसृति (संसार) की ध्वनि मेरे कानों पर पड़ती है।"

संक्षिप्त सार

प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त सार

सूत्र १—'स्वतंत्र चिति ही विश्व की सिद्धि का हेतु है'।

इस संदर्भ में 'विश्व' का अर्थ है सदाशिव से लेकर पृथिवी तक सब कुछ। 'सिद्धि' का अर्थ हैं सृष्टि, स्थिति और संहार। चिति ही सृष्टि करती है। माया या प्रकृति सृष्टि का कारण नहीं है। अतः चिति ही प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण तीनों का उत्स या मूल है, अतः कोई प्रमाण अपने मूल को जिसके द्वारा वह स्वयं जन्य है सिद्ध नहीं कर सकता।

सिद्धि का अर्थ भोग या मोक्ष भी हो सकता है। इनका भी हेतु स्वतंत्र चिति ही है।

हेतु का अर्थ केवल कारण नहीं है, साधन भी है। चिति ही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति परम चेतना की ओर आरोहण करता है जहाँ कि उसकी चेतना का भागवती चेतना से तादात्म्य हो जाता है।

चिति का एकवचन में प्रयोग यह दर्शाने के लिए हुआ है कि वह देश और काल से अपरिच्छिन्न है। इसे 'स्वतंत्र' यह वतलाने के लिए कहा गया है कि यह बिना माया इत्यादि की सहायता के स्वयं विश्व की सृष्टि में समर्थ है।

इस प्रकार चिति ही विश्व का हेतु शिवत्व-योजना का उपाय और परमार्थ है। इस सूत्र में समस्त ग्रन्थ का सार निहित है।

सूत्र २–अपनी ही इच्छा से, अपनी ही भित्ति (आधार) पर वह (चिति) विश्व को व्यक्त करती है।

वह अपनी ही इच्छा से विश्व को प्रकट करती है, किसी बाहरी कारण या प्रेरणा से नहीं। विश्व उसमें अव्यक्त रूप से रहता ही है, वह उसे व्यक्त करती है।

सूत्र ३—विश्व (परस्पर) अनुरूप ग्राह्य और ग्राहक के भेद से नाना प्रकार का है।

प्रमाता और प्रमेय के भेद से विश्व में नानात्व है। संक्षेप में यह भेद निम्नप्रकार का है :—

१. सदाशिव तत्त्व—इसमें 'अहं' परामर्श प्रधान रहता है, 'इदं' या विश्व का परामर्श एक प्रारम्भिक अवस्था में रहता है। जिस साधक की चेतना इस स्तर

पर पहुँच जाती है वह मंत्रमहेश्वर कहलाता है। वह सदाशिव द्वारा निदेशित होता है। उसने सदाशिव तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है। उसका परामर्श होता है 'अहमिदम्'। इस अवस्था में 'इदं' 'अहं' से पूर्णतः भिन्न नहीं होता।

२. **ईश्वरतत्त्व**—इसमें 'अहं' और 'इदं' दोनों का परामर्श तुल्यरूप से स्पष्ट होता है। जिस साधक की चेतना इस स्तर पर पहुँच जाती है वह मंत्रेश्वर कहलाता है। इस अवस्था में विश्व का परामर्श स्पष्ट होता है, किन्तु उसका अहं से तादात्म्य रहता है। मंत्रेश्वर ईश्वर द्वारा निदेशित होता है।

३. **विद्यातत्त्व**—इसमें 'इदं' और 'अहं' दोनों तुल्यरूप से भिन्न प्रतीत होते हैं। इसमें नानात्व का अनुभव होता है किन्तु उसमें एकत्व की भावना विद्यमान रहती है। जिस साधक की चेतना इस स्तर पर पहुँच जाती है वह 'मंत्र' कहलाता है। उसका निदेशक अनन्त भट्टारक होता है।

४. **विज्ञानाकल**—इसका स्तर शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर है। सकल और प्रलयाकल उसके अनुभव के क्षेत्र हैं।

५. **प्रलयकेवली या प्रलयाकल**—माया में स्थित प्रमाता प्रलयाकल कहलाता है। न तो उसे 'अहं' की ही स्पष्ट चेतना होती है, न 'इदं' की ही। उसकी चेतना शून्यप्राय की होती है।

६. **सकल**—माया से लेकर पृथ्वी तक के प्रमाता सकल कहलाते हैं। सकल का अनुभव नानात्व का रहता है। साधारण जीव सब सकल होते हैं।

शिव इन सबसे परे है। उसमें शाश्वत आनन्द है। उसका सदाशिव से लेकर पृथ्वी तक सबसे तादात्म्य है। वस्तुतः शिव ही इन सब अवस्थाओं में स्फुरित होता है।

सूत्र ४—वह जीव भी जिसमें चिति संकुचित हो गई है संकुचित रूप में विश्वमय ही है।

चित् या शिव ही संकोच को धारण कर संकुचित प्रमाता और संकुचित विश्व बन जाता है।

सूत्र ५—चिति चेतनपद से उतरकर चित्त बन जाती है, क्योंकि चेत्य के अनुकूल वह संकुचित हो जाती है।

संकोच के द्वारा चिति (समष्टि चेतना) ही चित्त (व्यष्टि चेतना) बन जाती है।

जब चिति संकोच ग्रहण करती है तो उसमें या तो (१) चित् का प्राधान्य अथवा (२) संकोच का प्राधान्य होता है।

पहली अवस्था में भी जब केवल प्रकाश प्रधान रहता है तब 'विज्ञानाकल' का पद होता है और जब प्रकाश और विमर्श दोनों प्रधान रहता है तब शुद्धविद्या-प्रमाता का पद होता है अथवा ईश, सदाशिव, अनाश्रित शिव का पद होता है। दूसरी अवस्था में शून्य प्रमाता इत्यादि का पद होता है।

समष्टि चेतना ही संकोच ग्रहण करके चित्त बन जाती है। समष्टि चेतना के ज्ञान, क्रिया और माया व्यष्टि चेतना में सत्त्व, रजस् और तमस् का रूप धारण कर लेते हैं।

सूत्र ६—माया प्रमाता चित्तमय होता है।

चित्त ही माया प्रमाता का स्वरूप है।

सूत्र ७—यद्यपि वह (आत्मा) एक है, तथापि द्विरूप, त्रिमय, चतुर्मय और सात पंचक स्वभाव वाला है।

चित् स्वयं शिव है। चैतन्य देश और काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

संकोच के द्वारा चैतन्य ग्राहक और ग्राह्य बन जाता है। इस प्रकार वह द्विरूप हो जाता है। आणव, मायीय और कार्म्म मल से आच्छन्न होने के कारण वह त्रिमय हो जाता है। (१) शून्य (२) प्राण (३) पुर्यष्टक और (४) स्थूल शरीर ग्रहण करने से वह चतुर्मय हो जाता है।

सात पंचक अर्थात् शिव से नीचे पैंतीस तत्त्व हो जाने का भी उसका स्वभाव है। शिव से लेकर सकल तक वह सात प्रकार का प्रमाता बनता है और कला से लेकर नियति तक पाँच आवरणों को ग्रहण कर वह पाँच स्वरूप वाला (जीव) भी हो जाता है।

सूत्र ८—सब दर्शनों की स्थितियाँ उसकी (आत्मा की) भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं

भिन्न-भिन्न दर्शनों की मान्यताएँ एक प्रकार से आत्मा द्वारा कल्पित भूमिकाएँ हैं।

(१) चार्वाक यह मानते हैं कि चैतन्य–विशिष्ट देह ही आत्मा है।
(२) नैयायिक सांसारिक दशा में बुद्धि को ही प्रायः आत्मा मान बैठते हैं। मोक्ष के अनन्तर उनका आत्मा शून्यवत् ही हो जाता है।
(३) मीमांसक भी बुद्धि को ही आत्मा मान बैठते हैं, क्योंकि वह अहंप्रत्यय को ही आत्मा समझते हैं।
(४) बौद्ध ज्ञानसन्तति को आत्मा समझते हैं अतः उनके दर्शन के अनुसार भी बुद्धि ही आत्मा है।
(५) कुछ वेदान्ती प्राण को ही आत्मा समझते हैं।

(६) कुछ अन्य वेदान्ती और माध्यमिक असत् या शून्य को ही आत्मतत्त्व समझते हैं।
(७) पांचरात्र के अनुयायी वासुदेव को ही उत्कृष्ट तत्त्व मानते हैं।
(७) सांख्य के अनुयायी विज्ञानाकल की स्थिति को ही परमतत्त्व समझते हैं।
(९) कुछ वेदान्ती ईश्वरतत्त्व को ही परमात्मा समझते हैं।
(१०) वैयाकरण पश्यन्ती या सदाशिव को ही परमतत्त्व मानते हैं।
(११) तांत्रिक विश्वोत्तीर्ण आत्मा को परमतत्त्व समझते हैं।
(१२) कौल आत्मतत्त्व को विश्वमय मानते हैं।
(१३) त्रिक दर्शन के अनुयायी यह मानते हैं कि आत्मतत्त्व विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है।

कुछ लोग इस सूत्र का अर्थ दूसरे ढंग से करते हैं। उनके अनुसार दर्शन का अर्थ ज्ञानसरणि नहीं, ज्ञान है। स्थिति का अर्थ अन्तर्मुखी विश्रान्ति है। 'तद्भूमिकाः' का अर्थ 'चिदानन्दघन की अभिव्यक्ति के उपाय' हैं। इस अर्थ के अनुसार नील सुखादि का अनुभव शिव या परमतत्त्व के स्वरूप की अभिव्यक्ति का उपाय है।

सूत्र ९—जो चित्स्वरूप है वह शक्ति के संकोच से मलावृत होकर संसारी बन जाता है।

इच्छा शक्ति के संकुचित होने पर आणव मल का आविर्भाव होता है जिससे आत्मा जीव होकर अपने को अपूर्ण मानता है।

ज्ञानशक्ति के संकोच से मायीय मल का आविर्भाव होता है जिसके कारण भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। क्रिया शक्ति के संकोच से कार्म मल का आविर्भाव होता है इस प्रकार शक्ति के संकोच से सर्वकर्तृत्व किंचित्कर्तृत्व ग्रहण कर कला बन जाता है, सर्वज्ञत्व किंचित्ज्ञत्व ग्रहण कर विद्या बन जाता है, पूर्णत्व अपूर्णत्व ग्रहण कर राग बन जाता है, नित्यत्व काल बन जाता है, व्यापकत्व नियति का रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार आत्मा जीव बन जाता है, किन्तु अपनी शक्तियों के विकास होने पर वह शिवत्व लाभ करता है।

सूत्र १०—संसारी की दशा में भी जीव पंचकृत्य करता रहता है।

जैसे शिव विश्व के प्राकट्य में पंचकृत्य करते रहते हैं वैसे ही जीव रूपी संकुचित दशा में भी वह पंचकृत्य करते रहते हैं।

किसी वस्तु का नियत देश-काल में आभासित होना सृष्टि क्रिया है। विषयों का अन्य देश-काल में आभासित होना संहार क्रिया है। किसी आभास का बना रहना स्थिति क्रिया है। भेद का आभास विलय क्रिया है। विषयों का चित्प्रकाश के तादात्म्य से प्रकाशित होना अनुग्रह क्रिया है।

सूत्र ११—वह प्रकाशन, आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन, विलापन रूपी पंचकृत्य भी करता है।

यह पंचकृत्य योगी के रहस्यमय दृष्टिकोण से होता है। जो कुछ प्रकाशित होता है, वह सृष्टि है। जब जीव उसका आस्वादन या आनन्द लेता है, तब वह स्थिति है। विमर्शन या चमत्कार के समय उस पदार्थ का संहार होता है। शंका इत्यादि के संस्कार खड़े हो जाते हैं, तो वह वीजरूप में संसार का कारण होता है। यह बीजावस्थापन विलय है। यदि अनुभूत विषय का चित् से तादात्म्य हो जाता है तो यह अनुग्रह की दशा है।

सूत्र १२—संसार दशा पंचकृत्य के अज्ञान के कारण अपनी शक्तियों से मोहित हो जाना है।

चित्प्रकाश से अभिन्न परावाक् शक्ति है। वह पूर्ण अहं ज्ञानरूपी है, 'अ' से लेकर 'क्ष' तक समस्त शक्ति-समूह को अपने गर्भ में धारण किये हुए है। वही पश्यन्ती इत्यादि क्रम से ग्राहक अवस्था को अवभासित करती है।

ग्राहक भूमि में वह अपने परा रूप का गोपन करके विशेष पदार्थों को अवभासित करती है जिसके कारण ग्राहक देह, प्राण इत्यादि को आत्मा मान वैठते हैं।

ब्राह्मी इत्यादि शक्तियाँ पशुदशा में भेद उत्पन्न करती हैं और पतिदशा में अभेद का ज्ञान उत्पन्न करती हैं। क्रमशः वे शुद्ध विकल्प उत्पन्न कर देती हैं जिससे अभेद का ज्ञान सम्पन्न होता है। अभेद ज्ञान उत्पन्न करने का यह शाम्भवोपाय है।

शाक्तोपाय निम्नलिखित है इस सन्दर्भ में चितिशक्ति को वामेश्वरी कहते हैं। खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी वामेश्वरी के प्रकार हैं। खेचरी शक्ति के द्वारा समष्टिचेतना व्यष्टिचेतना के रूप में, परिमितप्रमाता के रूप में प्रकट होती है, गोचरी शक्ति के द्वारा वह इन्द्रियों से युक्त होता है और भूचरी के द्वारा वह वाह्य पदार्थों को पृथक्-पृथक् रूप में देखता है।

साधना के द्वारा खेचरी द्वारा पूर्णकर्तृत्व, गोचरी द्वारा अभेद का निश्चय, दिक्चरी द्वारा अभेद का प्रत्यक्ष, भूचरी के द्वारा प्रमेयों का अपने अंग के समान वोध उत्पन्न होता है।

आणवोपाय निम्नलिखित है। साधना द्वारा जब उदान शक्ति और व्यान शक्ति विकसित होती है, तो जीव को तुर्य और तुर्यातीत दशा का अनुभव होता है और वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

सूत्र १३—पंचकृत्य के पूर्ण ज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखी भाव से चेतनपद पर पहुँच जाने से चिति हो जाता है।

जब पंचकृत्य का ज्ञान उदय होता है, तो अज्ञान निरस्त हो जाता है। चित्त अब अपनी शक्तियों से व्यामोहित नहीं होता और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर चिति हो जाता है।

सूत्र १४—चितिरूपी अग्नि अवरोह पद में (माया से) आच्छादित रहने पर भी प्रमेय रूपी इन्धन को कुछ अंश में जला देती है।

यह शंका होती है कि यदि चिति का स्वभाव अभेद है तो व्यक्ति के पद में भेद की प्रतीति क्यों होती है ?

इस सूत्र में इस शंका का उत्तर दिया गया है। व्यक्ति की अवस्था में भी चिति पूर्णतया अपने अभेद के स्वभाव को नहीं छोड़ती क्योंकि ज्ञात प्रमेयों को चिति उसी प्रकार आत्मसात् कर लेती है जैसे अग्नि इन्धन को अपने रूप में परिवर्तित कर लेती है। केवल माया से आच्छन्न होने के कारण चिति प्रमेयों को पूर्ण रूप से आत्मसात् नहीं कर पाती क्योंकि पूर्व संस्कारों के कारण वे पदार्थ पुनः उत्थापित हो जाते हैं।

सूत्र १५—जब चिति अपने स्वभावसिद्ध बल को प्राप्त कर लेती है तब वह विश्व को आत्मसात् कर लेती है।

यहाँ पर बल से तात्पर्य है अपने स्वरूप का उन्मेष। आत्मसात् करने का अर्थ है अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में आभासित करना। चिति-बल को प्राप्त करने का अभ्यास केवल देह, प्राण इत्यादि से जो मिथ्या तादात्म्य है उसको हटाने के लिए है।

सूत्र १६—चिदानन्द लाभ होने पर देह इत्यादि का अनुभव होने पर भी चित् से एकात्मता का बोध दृढ़ हो जाता है।

चित् से एकात्मता जीवन्मुक्ति की अवस्था है। यह अवस्था अज्ञान के हट जाने और अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के उदय होने पर होती है।

सूत्र १७—मध्य के विकास से चिदानन्द लाभ होता है।

मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। संवित् या चित्शक्ति ही मध्य है। संवित् इसलिए मध्य कहलाता है, क्योंकि यह सब कुछ का अन्तरतम तथ्य और आश्रय है। व्यक्ति में वह सुषुम्ना नाड़ी है। व्यक्ति में जब मध्य का विकास होता है अर्थात् उसमें जब सुषुम्ना का विकास होता है तब उसे समष्टि चेतना के चिदानन्द का लाभ होता है।

सूत्र १८—मध्य के विकास के लिए निम्नलिखित उपाय हैं :—

विकल्पक्षय : शक्ति का संकोच और विकास; वाहों का ध्वंस; आदि और अन्त कोटियों का अभ्यास।

विकल्पक्षय सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसमें साधक को चाहिए कि वह अपने चित्त को हृदय में एकाग्र करे, किसी विकल्प को न उठने दे। इस प्रकार चित्त को अविकल्प दशा में लाकर देह, प्राण इत्यादि से भिन्न आत्मा को वास्तविक प्रमाता के रूप में वह चेतना में केन्द्रीभूत करे, तो मध्य का विकास होगा और साधक तुर्य और तुर्यातीत दशा में पहुँच जायगा। मध्यविकास के लिए प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का यह मुख्य उपाय है।

अन्य उपाय प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के नहीं हैं, किन्तु उपयोगी होने के कारण बतलाये गये हैं।

शक्ति का संकोच और विकास :—शक्ति का संकोच—इसका अर्थ इन्द्रियों के द्वारा जो चेतना बहिर्मुखी होती है उसे अन्तर्मुखी करके आत्मा पर केन्द्रित करना है। **शक्ति का विकास**—इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियाँ पदार्थों की ओर प्रवृत्त हों, परन्तु चित्त भीतर की ओर केन्द्रित हो। शक्ति के संकोच और विकास का दूसरा उपाय है ऊर्ध्वकुण्डलिनी में प्रसर और विश्रान्ति का अभ्यास। उत्थानदशा में भी समाधि के अनुभव को स्थिर रखना प्रसर या विकास है और पुनः समाधि में चला जाना और उस दशा में स्थिर रहना विश्रान्ति या संकोच है।

तीसरा उपाय है **वाहच्छेद**। इसमें प्राण और अपान को हृदय में पहले रोक कर स्वररहित ककार, हकार वर्णों के उच्चारण से उनका निरोध किया जाता है।

चौथा उपाय है **आद्यन्तकोटिनिभालन**। इसका अर्थ है प्राण का आदि अर्थात् हृदय से उठना और अन्त अर्थात् नाक से बाहर १२ अंगुल के अन्तर पर समाप्त होना—इन दोनों के अवधान का अभ्यास।

सूत्र १९—समाधि के संस्कार से परिपूर्ण व्युत्थान में बराबर चित् (पारमार्थिक चेतना) के साथ अपने ऐक्य का चिन्तन करते रहने से शाश्वत समाधि का लाभ होता है।

व्युत्थानदशा में भी निमीलन समाधि के द्वारा योगी समस्त विश्व को चित् में निलीन कर लेता है और क्रममुद्रा द्वारा शाश्वत समाधि लाभ करता है।

सूत्र २०—क्रममुद्रा सिद्धि के अनन्तर प्रकाश और आनन्द का सार महामंत्र का वीर्यरूप पूर्ण अहन्ता में समावेश होने से अपने उस संविद् देवता के समूह पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है जो सारे विश्व की सृष्टि और संहार करता रहता है। यह सब शिव का स्वभाव है।

जब क्रममुद्रा सिद्ध हो जाती है तब साधक का पूर्ण अहन्ता में समावेश हो जाता है और वह संविद्देवता के समूह पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है जिससे सारे विश्व की सृष्टि और संहार होता है।

पूर्ण अहन्ता प्रकाशानन्दमय है। इसमें समावेश होने पर जीव देह, प्राण, इन्द्रिय इत्यादि को अहं नहीं समझता। अब वह भागवती अन्तर्ज्योति को ही अहं मानता है। यह वास्तविक अहं संविद्, सदाशिव और महेश्वर है। सभी वेद्य का अपने भीतर विश्रान्ति वास्तविक अहंभाव है। यही अहं सभी मंत्रों का सार है और परम वीर्यशाली है। यह समष्टि चित् ही है। इस पूर्णाहन्ता के लाभ होने पर उस संविद्देवतासमूह पर प्रभुत्व हो जाता है जिसके द्वारा सृष्टि और संहार होता रहता है।

●

जो मंगल की मूर्ति है उसे नमस्कार।

अब [प्रारम्भ होता है]

१

प्रत्यभिज्ञाहृदय

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥१॥
शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥२॥

(स्वरूप को पहचानने के लिए रहस्यशास्त्र)

इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्षणतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषित-पारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषाम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्व मनाक् उन्मील्यते

उस शिव[२] को नमस्कार है जो सतत[३] या बराबर पंचकृत्यों[४] को करता रहता है, जो चिदानन्दघनस्वरूप[५] अपने आत्मा[६] रूपी परमार्थ[७] को (जो कि प्रत्येक का आत्मा है) अवभासित करता है।

शंकर[८] सम्बन्धी जो उपनिषद्[९] या रहस्य है उसका सार प्रत्यभिज्ञा है उस प्रत्यभिज्ञा रूपी महासमुद्र से संसार रूपी[१०] विष के शान्त करने के लिए सार (श्रेष्ठभाग) क्षेमराज ने निकाल कर (इस ग्रन्थ में) रख दिया है।

भाष्य ०—

इस संसार में कुछ ऐसे भक्त लोग हैं जो सुकुमारमति के हैं (अर्थात् जिनकी मननशक्ति विकसित नहीं हुई हैं) जिन्होंने कठिन तर्कशास्त्र[११] में परिश्रम नहीं किया है, किन्तु जो परमेश्वर के साथ उस समावेश[१२] की अभिलाषा करते हैं जो कि शक्तिपात[१३] से विकसित होता है, उसके लिये ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में जो उपदेश हैं उसके तत्व को थोड़ा खोला जा रहा है।

तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं च अभिव्यङ्क्तुमाह

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥१॥

'विश्वस्य'-सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य 'सिद्धौ'-निष्पत्तौ, प्रकाशने, स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' भगवती 'स्वतन्त्रा'-अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना 'हेतुः'-कारणम्। अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति;-इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु मायाप्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्, प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः, न त्वसौ कश्चित्। अत एव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च

स्वात्म रूपी देवता ही सब का कारण है, वही (परमार्थ की) प्राप्ति का सरल उपाय है, वही (जीवन का) उत्कृष्ट फल है—यह स्पष्ट करने के लिए कहते हैं —

सूत्र[१४] १—(अनु०) स्वतंत्र[१५] चिति[१६] ही विश्व की सिद्धि[१७] का हेतु है।

भाष्य :—

विश्वस्य– अर्थात् सदाशिव[१८] से लेकर भूमि तक विश्व के सिद्धौ-सिद्धि में अर्थात् प्रकाशन या सृष्टि में, स्थिति में और पर (सर्वोच्च) प्रमाता[१९] (ज्ञाता) में—विश्रान्ति रूपी संहार में, परा (सर्वोच्च) शक्ति[२०] रूपा चिति जो स्वतंत्र है, जो अनुत्तर[२१] की विमर्शमयी[२२] है, जो शिवभट्टारक[२३] से अभिन्न है, हेतु अर्थात् कारण है।

इस पराचिति के ही प्रसरण से जगत् का अस्तित्व और स्थिति होती है इसका प्रसरण जब समाप्त हो जाता है तब जगत् का संहार हो जाता है। इसमें अपना अनुभव ही साक्षी है। अन्य किसी वस्तु का, माया, प्रकृति इत्यादि का जो चित्प्रकाश से भिन्न है, अतः अप्रकाशित होने के कारण जिसका अस्तित्व ही नहीं है, कभी भी विश्व की सिद्धि में कारणत्व नहीं हो सकता। यदि कहो कि माया, प्रकृति इत्यादि भी तो प्रकाशित है, तो वे प्रकाश से अभिन्न हो जायँगी। अतः प्रकाशरूपी चिति (विश्वसिद्धि में) हेतु है, न कि माया इत्यादि कोई वस्तु। अतएव देश, काल और आकार जिनकी सृष्टि इसी (चिति) से ही हुई है और इसी (चिति)

नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्;-इति व्यापक-नित्योदितपरिपूर्णरूपा इयम्-इत्यर्थलभ्यमेव एतत्।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्; अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः? उच्यते। चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति,-इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः यतश्च इयमेव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ-प्रकाशने हेतुः, ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तम् उत्पन्नं वा। तदुक्तं त्रिकसारे—

से अनुप्राणित है इसके स्वरूप के भेदन करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि यह (चिति) व्यापक, नित्य उदित है[२४] और (अपने आप में) परिपूर्ण है। (सब सूत्र के) अर्थ से यही समझना चाहिए।

यह शंका की जा सकती है (ननु) कि (यदि चित् ही सब कुछ है तब जगत् तो चित् से भिन्न होने के कारण कुछ नहीं है) (अर्थात् इसका कोई अस्तित्व नहीं है) यदि (चित् और जगत् में) अभेद माना जाय, तो कार्य-कारण-भाव कैसे बन सकता है?※

(उत्तर में कहा जाता है कि) स्वच्छ और स्वतंत्र होने के कारण भगवती चित् ही नाना प्रकार के अनन्त जगत् के रूप में उल्लिखित होती है। कार्य कारण भाव यहाँ पर परमार्थ† में प्रयुक्त हुआ है और केवल इतना ही उसका यहाँ तात्पर्य है।

यतः चित् ही प्रमातृ[२५]–प्रमाण[२६]–प्रमेय[२७]–मय विश्व की सिद्धि अर्थात् प्रकाशन में हेतु है अतः इस स्वतंत्र अपरिच्छिन्न (असीम), स्वप्रकाशरूप चित् को सिद्ध करने में बेचारा प्रमाण जिसका नये नये अर्थों के प्रकाशन करने का स्वभाव है न तो उपयुक्त ही है, न उत्पन्न ही।♦

यह बात त्रिकसार में (इस प्रकार) कही गयी है —

※ कार्य-कारण-भाव में कार्य कारण से भिन्न समझा जाता है। चित् जगत् का कारण माना गया है, किन्तु यदि चित् और जगत् में अभेद है, तो जगत् चित् का कार्य कैसे हो सकता है, क्योंकि कार्य को तो कारण से भिन्न होना चाहिए।

† परमार्थ में कार्य-कारण भाव में क्रम नहीं है। क्रम में ही कार्य कारण से भिन्न होता है। चित् का स्फुरण ही जगत् का उन्मेष है। दोनों का यौगपद्य (एक साथ होना) है। क्रम नहीं है।

♦ कहने का तात्पर्य यह है कि प्रमाण का तो कार्य है किसी नये अर्थ को सिद्ध करना। जो सदा वर्तमान है उसे प्रमाण क्या सिद्ध करेगा?

'स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला ॥'

इति ।

यतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्यापादनात्मनि च संहारे हेतुः, तत एव स्वतन्त्रा । प्रत्यभिज्ञातस्वातन्त्र्या सती, भोगमोक्षस्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः ।—इति आवृत्त्या व्याख्येयम् ।

अपि च 'विश्वं'-नील-सुख-देह-प्राणादि; तस्य या 'सिद्धिः'—प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमयप्रमात्रावेशः, सैव 'हेतुः'-परिज्ञाने उपायो यस्याः । अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम् । यदुक्तं श्रीविज्ञानभट्टारके—

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥'

इति ।

जैसे जब कोई अपने सिर की छाया को अपने पैर से लाँघना चाहता है तो तो सिर कभी भी पैर के स्थान पर नहीं होता, वैसे ही (वैसा ही तथ्य) इस वैन्दवी कला[२८] (के विषय में है)

यह (चिति) विश्व की सिद्धि में तथा परम अद्वय (चित्) से समरस[२९] कर देने वाले संहार में भी हेतु है, इसलिए यह स्वतंत्र है[३०] । [यतः चिति विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों का हेतु है अतः वह स्वतंत्र है ।] जब इसके स्वातंत्र्य की पहचान हो जाती है, तो यह चित् शक्ति भोगमोक्षरूपी विश्वसिद्धि[३१] का भी हेतु होती है । इस दूसरे प्रकार से भी इसकी व्याख्या कर लेनी चाहिए । (अब हेतु शब्द को उपाय के अर्थ में लेकर व्याख्या करते हैं ।)

विश्व का अर्थ नील (इत्यादि बाह्य पदार्थ), सुख (इत्यादि आन्तरिक संवेदन), देह, प्राण, (इत्यादि परिमित प्रमाता) उसकी जो सिद्धि अर्थात् प्रमाण के आरोहक्रम[३] से विमर्शमय प्रमाता में आवेश है, वही सिद्धि उस चिति शक्ति के पहिचान में हेतु अर्थात् उपाय है । उपाय यहाँ आसान उपाय के अर्थ में कहा गया है जैसा कि श्री विज्ञानभट्टारक में कहा गया है । (विज्ञान भैरव श्लोक १०६)

''ज्ञेय और ज्ञाता का ज्ञान सभी देहधारियों के लिए सामान्य है, किन्तु योगियों की विशेषता यह है कि वह इस सम्बन्ध के विषय में सजग रहते हैं'' (अर्थात् वह यह समझते हैं कि ग्राह्य या ज्ञेय सर्वदा ग्राहक या ज्ञाता से सम्बद्ध रहता है । बिना ज्ञाता से सम्बद्ध हुए कोई ज्ञेय हो ही नहीं सकता जहाँ से

'चितिः'–इति एकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्तभेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति। 'स्वतन्त्र'-शब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यम आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। 'विश्व'–इत्यादिपदम् अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफलं च आह ॥ १ ॥

ननु विश्वस्य यदि चितिः हेतुः, तत् अस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादापरित्यागः स्यात्–इत्याशङ्क्य आह।

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥ २ ॥

'स्वेच्छया' न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया,–एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत–'स्व भित्तौ',

---

ज्ञाता का उदय होता है और जिसमें उसकी विश्रान्ति होती है उसका योगी को सदा भान रहता है)

(सूत्र में) चिति जो एकवचन में है यह बतलाते हुए कि वह देश, काल इत्यादि से परिसीमित नहीं है समस्त भेदवादों की अवास्तविकता को व्यक्त करती है।

(सूत्र में) स्वतंत्र शब्द ब्रह्मवाद[33] से विलक्षणता बतलाते हुए यह भी बतलाता है कि चित् का सार है महान् ऐश्वर्य।

(सूत्र में) विश्व इत्यादि पद यह बतलाते हैं कि चिति की शक्ति अपरिसीमित है, वही सबका कारण है, वही (उसी का परिज्ञान) (मोक्ष का) सरल उपाय है, और वही जीवन का परम फल है।

यहाँ यह शंका उठती है (ननु) कि यदि चिति विश्व सिद्धि का हेतु है तो उसको उपादान इत्यादि की आवश्यकता होने से भेदवाद का परित्याग नहीं हो सकता। ऐसी शंका करके (उत्तर में) कहते हैं।

सूत्र २—(अनुवाद) अपनी ही इच्छा से, अपनी ही भित्ति (आधार) पर वह (चिति) विश्व को व्यक्त करती है।

भाष्य—स्वेच्छया अपनी ही इच्छा से, दूसरे (मायाइ०) की इच्छा से नहीं जैसा कि ब्रह्मवादी (वेदान्ती) मानता है, उसी (इच्छा ही) के द्वारा, न कि उपादान (वस्तु तैयार करने की सामग्री) आदि के भरोसे। ऐसा होने पर (अर्थात् उपादान कारण आदि के भरोसा करने पर) पहले कहे हुए (प्रथम सूत्र में कहे हुए) स्वातंत्र्य के अभाव के कारण उसका चित् होना ही (चित्त्वं) नहीं सम्भव हो सकता (अर्थात् चित् और स्वातंत्र्य अवियोज्य हैं।) 'स्वभित्तौ' अपनी

न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं 'विश्वं' दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव 'उन्मीलयति'। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्। –इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम् ॥ २ ॥

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह—

तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ॥ ३ ॥

तत्' विश्वं 'नाना'–अनेकप्रकारम। कथं? 'अनुरूपाणां'- परस्परौचित्यावस्थितीनां 'ग्राह्याणां ग्राहकाणां' च 'भेदात्'–वैचित्र्यात्। तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादित अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं

ही भित्ति पर, अपने ही आधार पर और कहीं नहीं। पहले (प्रथम सूत्र में) निश्चित रूप से बतलाये हुए विश्व को दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुए भी भिन्न के समान व्यक्त करती है।[३४]

सूत्र में जो उन्मीलन शब्द आया है वह (चिति में पहले से ही अव्यक्त रूप में) जो स्थित है उसको प्रकट या व्यक्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सूत्र से जगत् का (सृष्टि से पूर्व) प्रकाश रूप में ही स्थित रहना बतलाया गया है।

अब विश्व का स्वरूप विभाग द्वारा स्पष्ट करने के लिये कहते हैं।

सूत्र ३—विश्व (परस्पर) अनुरूप ग्राह्य (प्रमेय) और ग्राहक (प्रमाता) के भेद से नाना प्रकार का है।

भाष्य–(सूत्र में जो) 'तत्' (वह) शब्द है, वह विश्व के लिए प्रयुक्त है। जो 'नाना' शब्द है वह 'अनेक प्रकार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कैसे? परस्पर उपयुक्त रूप में स्थित ग्राह्य (प्रमेय) और ग्राहक (प्रमाता) के भेद अर्थात् वैचित्र्य से।

(ग्राह्य और ग्राहक की अनुरूपता निम्नलिखित है)

सदाशिवतत्त्व[३५] में जिस प्रकार परापर रूप विश्व जो कि 'मैं' के भाव (अहन्ता) से आच्छादित है और जिसमें 'इस' का भाव (इदन्ता) अस्फुट है ग्राह्य (प्रमेय या विषय) है। उसी के अनुरूप मंत्रमहेश्वर नाम के (वहाँ) प्रमाता भी हैं जिनके अधिष्ठाता पूज्य सदाशिव हैं और जिनकी उस दशा में स्थिति परमेश्वर की इच्छा से होती है।

ईश्वर तत्त्व[३६] में जिस प्रकार का विश्व ग्राह्य या विषय है जिसमें कि 'मैं' (अहन्ता) और 'यह' (इदन्ता) समान रूप से स्फुट या स्पष्ट हैं उसी प्रकार उसमें

ग्राह्यं, तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः । ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्ता-सामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारका-धिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः । विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखा-वान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्रा प्रमातारः, तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम् । मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधा-त्मानः, तादृगेव तदभेदसारं सकल-प्रलयाकलात्मक-पूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम् । मायायां शून्यप्रमातृणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम । क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम् । तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः । श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति;

मन्त्रेश्वर वर्ग ग्राहक या प्रमाता है (जिसको 'मैं' और 'यह' एक साथ समान रूप से स्पष्ट है) । उस मंत्रेश्वर वर्ग का अधिष्ठाता पूज्य ईश्वर है ।

विद्या अर्थात् शुद्ध विद्या[37] पद में जैसे भिन्न-भिन्न 'मंत्र' प्रमाता (ज्ञाता) होते हैं वैसे ही उनके द्वारा प्रमेय (ज्ञेय) विश्व भी ऐसा है जिसका भेद ही एक सार है । इन मंत्रों की बहुत सी शाखाएँ हैं और वे अन्यान्य भेद के कारण परस्पर भिन्न हैं । उनका अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक है ।

माया से ऊपर (और शुद्ध विद्या से नीचे) जिस प्रकार विज्ञानाकल[38] प्रमाता हैं जो कर्तृता से शून्य हैं और शुद्ध बोधरूप हैं उसी प्रकार उनसे अभिन्न और पूर्व अवस्था में परिचित सकल और प्रलयाकल उनके प्रमेय हैं ।

माया के स्तर पर शून्य प्रमाता या प्रलयकेवली[39] होते हैं जिनका प्रमेय अर्थात् ज्ञेय विषय शून्यप्राय होता है जो कि उनकी दशा के लिए उचित ही है । (प्रलयाकल के अनन्तर) (माया से लेकर) पृथ्वी तक सकल[40] अवस्थित हैं जो कि परिमित होते हैं और सबसे भिन्न होते हैं । जैसे ये परिमित और भिन्न होते हैं वैसे ही (तथाभूतम्) इनका प्रमेय भी परिमित और भिन्न होता है ।

इन सबसे (अर्थात् मंत्रमहेश्वर से लेकर सकल तक जो प्रमाता हैं) पर शिव भट्टारक (पूज्य, आदरणीयशिव) है जो कि केवल प्रकाशरूप[41] है और जिसकी सभी अवस्थाएँ भी प्रकाशरूप ही हैं । श्रीमत्परमशिव की अवस्था में जो कि विश्व से परे है और विश्वमय भी है, जो परमानन्दरूप है, जो सघन प्रकाश है, सब कुछ—

न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थ नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति–इत्यभिहितप्रायम् ॥ ३ ॥

यथा च भगवान् विश्वशरीरः, तथा

चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ॥ ४ ॥

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवविभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति; ततःचिद्रसाश्यानतारूपा-

---

शिव से लेकर पृथिवी तक अभेदरूप से ही प्रकाशित होता रहता है। वस्तुतः अन्य कोई ग्राह्य–ग्राहक है ही नहीं। (भट्टारक) परमशिव ही इस प्रकार सहस्रों भिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है। यही इस सूत्र के कहने का तात्पर्य है।

जैसे भगवान् का समस्त विश्व शरीर रूप ही है, वैसे ही

सूत्र ४—वह चेतन भी (व्यष्टि, चेतन व्यक्ति भी) जिसमें चिति संकुचित हो गई है, संकुचित रूप में विश्वमय ही है।

[अर्थात् जैसे समष्टिचेतन अथवा परमशिव से शिव अभिन्न है विश्व उसका शरीर रूप ही है, उसी प्रकार व्यष्टिचेतन अर्थात् व्यक्ति भी विश्वमय है। अन्तर यह है कि व्यष्टिचेतन में चिति संकुचित रहती है। इसलिए उसका विश्व भी संकुचित रहता है। परमशिव का समस्त विश्व शरीर है। व्यक्तिचेतन का विश्व पाँच छः फीट वाला शरीर है।]

भाष्य–श्री परमशिव, विश्व को जो कि तादात्म्यरूप में उनमें स्थित है, सदाशिव आदि उपयुक्त रूप से प्रकाशित करने की इच्छा रखते हुए, पहले प्रकाश से अभिन्न रूप में अर्थात् प्रकाश के ही रूप में प्रकाशित होते हैं इस अवस्था में चिदैक्य की (चिदेकता की वह अवस्था जिसमें चित् और विश्व एक रूप है) अख्याति※(बोध से हट जाना) हो जाती है। इस अवस्था का अनाश्रित शिव[42] पर्याय (दूसरा नाम) है जिसमें शून्य से भी अधिक शून्य[43] रहता है (अर्थात् विश्व का अभाव (शून्य) सा हो जाता है, केवल प्रकाश ही प्रकाश रह जाता है) इसके अनन्तर

※ 'अख्याति' का अर्थ है "शिवस्वरूपापोहनम्" अर्थात् वह स्थिति जिसमें शिव का पूर्ण स्वरूप ओझल हो जाता है, शिव का पूर्ण स्वरूप वह है जिसमें शिव और विश्व का एकीभाव है, इसी को 'चिदैक्य' कहा है। विश्व का निषेध हो जाना चिदैक्य की अख्याति है। इस अख्यातिमय अवस्था का दूसरा नाम 'अनाश्रित शिव' है।

शेषतत्त्वभुवनभाव-तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते। यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः, तथा 'चितिसंकोचात्मा' संकुचित चिद्रूपः, 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः। तथा च सिद्धान्तवचनम्

'विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।'

इति। त्रिशिरोमतेऽपि

'सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं शृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम्॥'

इत्युपक्रम्य

'त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः॥'

इत्यन्तेन ग्रन्थेन ग्राहकस्य संकुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति।

अयं च अत्राशयः—ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीरशिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्त्या अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्

वह सब तत्त्व, भुवन, भाव (पदार्थ) और इनके प्रमाताओं (ज्ञाताओं) के रूप में भी प्रकाशित होना है। ये सब चिद्रस के घनीभूत रूप हैं (चिद्रसाश्यानतारूप) और जैसे इस प्रकार भगवान् का सम्पूर्ण विश्व शरीर है, वैसे ही उस चेतना अर्थात् ग्राहक या प्रमाता का-जिसका चित् संकुचित हो गया है (चितिसंकोचात्मा) संकुचित रूप में समस्त विश्व शरीर है जिस प्रकार वट वृक्ष (संकुचित रूप में) अपने बीज में रहता है। (इस शास्त्र का) सिद्धान्त वचन भी है।

"एक शरीर और शरीरी में सब शरीर और शरीरियों का अन्तर्भाव है।"

त्रिशिरोमत[४४] में भी "यह शरीर सभी देवों[४५] का रूप है। हे प्रिये[४६] इसके विषय में सुनो। काठिन्य के कारण यह पृथ्वी कहलाता है और द्रवत्व के कारण जल।" इस प्रकार प्रारम्भ करके "तीन शिर वाला भैरव[४७] विश्व में व्याप्त होकर साक्षात् व्यवस्थित है।" अन्त में इस प्रकार कहकर यही बतलाया है कि (संकुचित) ग्राहक या प्रमाता संकुचित रूप में विश्वमय ही है।

(इस कथन का) यहाँ यह अभिप्राय है—ग्राहक या प्रमाता उस शिव से जिसका विश्व शरीर है अभिन्न है क्योंकि ग्राहक (शिव के समान) प्रकाश स्वरूप है और क्योंकि पूर्वोक्त आगम ने (इसके लिए) युक्ति (तर्क) भी दी है। केवल उसकी (शिव की) माया शक्ति के कारण वह (ग्राहक) अपने स्वरूप के अभि-

संकुचित इव आभाति; संकोचोऽपि विचार्यमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव, अन्यथा तु न किंचित्।—इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। तदुक्तं मयैव

'अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते॥'

इति। अनेनैव आशयेन श्रीस्पन्दशास्त्रेषु

'यस्मात्सर्वमयो जीवः............।'

इत्युपक्रम्य

'तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः॥'

इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः। एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः,—इति भविष्यति एव एतत्॥ ४॥

व्यक्त न होने के कारण संकुचित जैसा लगता है। विचार करने पर (यह स्पष्ट हो जायगा) कि संकोच भी चिन्मय अर्थात् चिद्रूप होने के कारण ही वह प्रथमान अर्थात् प्रकाशित होता है, नहीं तो संकोच कुछ भी नहीं रह जायगा। (अर्थात् यदि संकोच प्रकाशित नहीं होता, तो वह कुछ नहीं है; यदि प्रकाशित होता है तो वह चिद्रूप ही है) इस प्रकार सभी ग्राहक वह पूज्य शिव ही हैं जिसका विश्व शरीर है। यह मैंने ही (अन्यत्र) कहा है।

"यदि यह कहा जाय कि अख्याति (अज्ञान) वह है जो प्रकाशित नहीं होती तो फिर ख्याति (ज्ञान) ही बच रहती है (क्योंकि जो प्रकाशित ही नहीं होता वह कुछ नहीं है)। यदि यह कहा जाय कि अख्याति प्रकाशित होती है तब तो (और भी) ख्यातिरूप होने के कारण (अर्थात् प्रकाशित होने के कारण) ख्याति ही बच रहती है। (अर्थात् ख्याति (ज्ञान) जो चिद्रूप है वही सब कुछ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।) इसी आशय से स्पन्दशास्त्र में "क्यों कि जीव विश्वमय है (अर्थात् विश्व से अभिन्न है)" यहां से प्रारम्भ करके, "इस कारण चाहे शब्द हो, चाहे अर्थ हो, चाहे चिन्तन हो—कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जो शिव नहीं है"[४९] इससे उपसंहार करते हुए शिव और जीव का अभेद ही कहा है। इसी तत्त्व का ज्ञान मुक्ति है, इसी तत्त्व का अज्ञान वन्धन है। यह बात आगे स्पष्ट होगी ही॥ ४॥

ननु ग्राहकोऽयं विकल्पमयः, विकल्पनं च चित्तहेतुकं; सति च चित्ते, कथमस्य शिवात्मकत्वम् ?–इति शङ्कित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह

चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ॥५॥

न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपि तु सैव भगवती तत् । तथा हि सा स्वं स्वरूपं गोपयित्वा यदा संकोचं गृह्णाति, तदा द्वयी गतिः; कदाचित् उल्लसितमपि संकोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरति, कदाचित् संकोच-प्रधानतया । चित्प्राधान्यपक्षे सहजे, प्रकाशमात्रप्रधानत्वे विज्ञानाकलता; प्रकाशपरामर्शप्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता । तत्रापि क्रमेण संकोचस्य तनुतायाम्, ईश-सदाशिवानाश्रितरूपता । समाधिप्रयत्नोपार्जिते तु चित्प्र-

---

यहाँ एक प्रश्न उठता है—ग्राहक (ज्ञाता) विकल्पमय[५०] है, विकल्प की क्रिया चित्त के कारण होती है, तो चित्त के रहते हुए ज्ञाता शिवरूप कैसे हो सकता है (क्योंकि शिव तो निर्विकल्प है) । ऐसी शंका करके चित्त का ही निश्चित रूप बतलाने के लिए कहते हैं ।

सूत्र ५—चिति (परा संविद्, समष्टि संविद्) ही चेतन पद (असंकुचित प्रमाता के पद) से उतर का चित्त (व्यष्टिगत संविद्) बन जाती है क्योंकि चेत्य (चेतना द्वारा ग्राह्य पदार्थ) के अनुकूल वह संकुचित हो जाती है ।

भाष्य—चित्त और कुछ नहीं है; चिति ही चित्त[५१] है । जब वह अपने स्वरूप को छिपाकर संकोच ग्रहण करती है, तो दो गति होती है—कभी जो संकोच प्रारम्भ हो रहा है उसे गौण करके चित् की प्रधानता के रूप में प्रकाशित होती है, कभी संकोच की प्रधानता के रूप में (प्रकाशित होती है) । जब चित् की प्रधानता स्वाभाविक रूप में प्रकट होती है, तो प्रकाशमात्र (अर्थात्-विमर्श रहित) प्रधान होने पर विज्ञानाकल[५२] की अवस्था होती है और परामर्श (विमर्श) सहित प्रकाश के प्रधान होने पर विद्या-प्रमाता[५३] की अवस्था होती है । इस स्थिति में भी (अर्थात् विमर्शसहित प्रकाश की अवस्था में) क्रम से संकोच के कम होने पर ईश, सदाशिव और अनाश्रित शिव[५४] की दशा प्राप्त होती है ।

समाधि के प्रयत्न से प्राप्त किये हुए चित् के प्रधानत्व में, शुद्धाध्व[५५] का प्रमाता क्रमशः सर्वोच्च स्थिति में पहुँचता है ।※

※ **इसका भाव यह है कि चित् की प्रधानता या तो सहज रूप में होती है या समाधि के प्रयत्न से अर्जित होती है । सहज रूप में जो चित् की प्रधानता होती है उसमें या तो प्रकाशमात्र की प्रधानता हो सकती है या विमर्श सहित प्रकाश की**

धानत्वे शुद्धाध्वप्रमातृता क्रमात्क्रमं प्रकर्षवती। संकोचप्राधान्ये तु शून्यादि-प्रमातृता। एवमवस्थिते सति, 'चितिरेव' संकुचितग्राहकरूपा 'चेतनपदात् अवरूढा'—अर्थग्रहणोन्मुखी सती 'चेत्येन'—नील-सुखादिना 'संकोचिनी उभयसंकोचसंकुचितैव चित्तम्। तथा च

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥'

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रिया-मायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्व-रजस्तमः-स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति; इति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्। अत एव श्रीतत्त्वगर्भस्तोत्रे विकल्पदशायामपि तात्त्विकस्वरूपसद्भावात् तदनुसरणाभिप्रायेण उक्तम्

(चित् के) संकोच की प्रधानता होने पर शून्यादि प्रमाता होते हैं। इस प्रकार से स्थित होने पर चिति ही (चैतन्य स्वरूप ही) संकुचित (परिमित) प्रमाता के रूप में चेतन पद (असंकुचित प्रमाता के पद) से उतर कर विषयों को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होकर चेत्य अर्थात् ग्राह्य या प्रमेयों—जैसे नील (बाह्य-प्रमेय) सुख (आन्तर प्रमेय) इत्यादि से संकुचित होकर, दो संकोचों (बाह्य और आन्तर प्रमेय) से संकुचित होकर चित बन जाती है। चिति ही, समष्टि चेतना ही संकोच के कारण, परिच्छिन्न होकर चित्त अर्थात् व्यष्टिचेतना बन जाती है)।

(इसी प्रकार श्री प्रत्यभिज्ञा (उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १, ४, ३) में कहा है—पति (शिव) **की जो ज्ञान, क्रिया और तीसरी माया शक्तियाँ हैं वे ही अपने अंगरूप पदार्थों के विषय में** पशुदशा में (अणुमें, जीव में) क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् बन जाती हैं। इससे और इसी प्रकार की अन्य उक्तियों से (यह स्पष्ट है कि) चिति शक्ति ही जिसका स्वातंत्र्य स्वरूप है, जो ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति रूप[५६] है पशु (जीव) की दशा में संकोच के बढ़ जाने के कारण सत्व, रज और तम[५७] के स्वभाव वाले चित्त के रूप में प्रकट होती है। विकल्पदशा[५८] में भी जीव अर्थात् व्यष्टि की अन्तश्चेतना तात्त्विक स्वरूप में ही रहती है। इसीलिए उसके (तात्त्विक स्वरूप के) अनुसरण के अभिप्राय से श्रीगर्भस्तोत्र में कहा है:—

प्रधानता हो सकती है। प्रकाशमात्र की प्रधानता का प्रमाता विज्ञानाकल है, विमर्श सहित प्रकाश की प्रधानता के प्रमाता विद्या-प्रमाता (शुद्धविद्याप्रमाता) हैं। समाधि के प्रयत्न द्वारा अर्जित चित् की प्रधानता के प्रमाता शुद्धाध्वप्रमाता होते हैं जो क्रमशः सर्वोच्च अवस्था तक पहुँच जाते हैं।

'अत एव तु ये केचित्परमार्थानुसारिणः।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते ॥'

इति ॥ ५ ॥

चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपम्-इत्याह

तन्मयो मायाप्रमाता ॥ ६ ॥

देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानमेव; शून्यभूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव; अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यात्;—इति चित्तमय एव मायीयः प्रमाता । अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु वस्तुवृत्तानुसारेण

'चैतन्यमात्मा' (१-१)

इत्यभिधाय, मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः

अतएव जो कोई परमार्थ का अनुसरण करते हैं उनके लिए स्वरूप के (अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वभाव का) स्वप्रकाशत्व का लोप नहीं होता।

चित्त ही मायाप्रमाता का स्वरूप है, इसलिए कहते हैं।

सूत्र ६—तन्मयोमायाप्रमाता ॥ ६ ॥

अर्थात् मायाप्रमाता[५९] तत् (चित्त) मय होता है। (माया से आवृत जो अणु है वह चित्त-प्रधान है)।

भाष्य—देह और प्राण के क्षेत्र में चित्त प्रधान है ही, शून्य-भूमि में भी (अर्थात् जिस अवस्था में केवल शून्य का ही भान होता है) उसमें भी चित्त का संस्कार रहता है। नहीं तो शून्य के अनुभव के बाद व्युत्थानदशा में आने में अपने कर्त्तव्य का अनुसरण सम्भव न होता (अर्थात् शून्य के अनुभव की अवस्था में यदि चित्त का संस्कार न बना रहता, यदि उस दशा में चित्त निर्मूल हो जाता तो शून्य के अनुभव से उठने के बाद फिर अपने कर्त्तव्य का ही पता न लगता। शून्य दशा में भी यद्यपि चित्त क्रियाशील नहीं रहता तथापि उसके संस्कार वर्तमान रहते हैं। उन्हीं संस्कारों के कारण ही हम शून्य के अनुभव की अवस्था से फिर व्यवहार दशा में आने पर अपने कार्यों के सूत्र को पकड़ लेते हैं)। इसलिए मायायुक्त प्रमाता चित्तमय ही है। इसी आशय से शिवसूत्रों में वस्तुस्थिति को बतलाने के समय चैतन्यमात्मा (अर्थात् चैतन्य ही—समष्टि चित्—ही आत्मा है (१-१) यह कह

'चित्तमात्मा' (३—१)

इत्युक्तम् ।। ६ ।।

अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः, असम्यक् तु संसारः, ततः तिलश एतत्स्वरूपं निर्भङ्क्तुमाह

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा

सप्तपञ्चकस्वभावः ।। ७ ।।

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव 'एक' आत्मा, न तु अन्यः कश्चित्; प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात्; जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः । प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादिसंकोचः संकुचितार्थग्राहकतामश्नुते, ततः असौ प्रकाशरूपत्वसंकोचावभासवत्त्वाभ्यां

कर माया प्रमाता के लक्षण को बतलाने के समय चित्तमात्मा (३–१) यह कहा है । (अर्थात् माया प्रमाता की दृष्टि से चित्त—व्यष्टि चेतना—ही आत्मा है) ।। ६ ।।

यतः इसी (आत्मा) के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से मुक्ति होती है और असम्यक ज्ञान से संसरण (नाना योनियों में भ्रमण) होता है, अतः उनके स्वरूप का एक एक करके विश्लेषण करने के अभिप्राय से कहते हैं—

सूत्र ७—और यद्यपि वह (आत्मा) एक है तथापि द्विरूप, त्रिमय, चतुर्मय और सात पंचक स्वभाव वाला है ।। ७ ।।

भाष्य—जैसा पहले निर्णय किया जा चुका है उस दृष्टि से चित् रूपी भगवान् शिव एक आत्मा है, दूसरा कोई नहीं । क्योंकि प्रकाश (प्रकाश रूप आत्मा) का देश, काल आदि द्वारा भेद नहीं किया जा सकता; जड़ का तो ग्राहकत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता ।※

यतः प्रकाश ही अपने स्वातंत्र्य[10] से प्राण इत्यादि संकोच को धारण कर लेता है और संकुचित अर्थों (विषयों) का ग्राहक (ज्ञाता) बनता है अतः वह

※ कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा चित् स्वरूप है । चित् सर्वदा प्रकाश स्वरूप है । भेद देश, काल आदि के द्वारा होता है । प्रकाश का देश, काल आदि के द्वारा भेद नहीं किया जा सकता । प्रकाश सर्वदा सर्वथा प्रकाश ही रहता है । अतः प्रकाश एक है । आत्मा प्रकाश स्वरूप है, अतः आत्मा एक है । और जड़ तो ग्राहक बन ही नहीं सकता वह तो केवल ग्राह्य ही रहता है ।

'द्विरूपः' आणव-मायीय-कार्ममलावृतत्वात् 'त्रिमयः'। शून्य-प्राण-पुर्यष्टक-शरीरस्वभावत्वात् 'चतुरात्मा'। सप्तपञ्चकानि'-शिवादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशत्तत्त्वानि तत्स्वभावः'। तथा शिवादि-सकलान्त-प्रमातृसप्तकस्वरूपः; चिदानन्देच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कला-विद्या-राग-काल-नियतिकञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः एवं च शिवैकरूपत्वेन पञ्चत्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशक्ति-पञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः, अन्यथा तु संसार-हेतुः ॥ ७ ॥

---

(१) प्रकाश रूप और (२) संकुचित अवभास रूप के कारण द्विरूप (दो रूप वाला) बन जाता है।

आणव, मायीय और कार्म मल[६१] से आवृत अर्थात् आच्छादित होने के कारण वह त्रिमय (तीन प्रकार वाला) भी कहलाता है।

वह (१) शून्य[६२] (२) प्राण (३) पुर्यष्टक[६३] (४) और (स्थूल) शरीर का स्वभाव ग्रहण करता है। इस लिए वह चतुरात्मा कहलाता है।

सप्त पंचक यह शब्द जो सूत्र में आया है उसे दो प्रकार से समझ सकते हैं) (पहला प्रकार वह है जिसमें सप्त और पंचक को एक साथ लेकर समझें) आत्मा का सात पंचक वाला स्वभाव है। अर्थात् शिव से लेकर पृथिवी तक वह (७ × ५) ३५ तत्वों के स्वभाव वाला है। (दूसरा प्रकार वह है जिसमें सप्त और पंचक को अलग-अलग लेकर समझें)। वह (आत्मा) शिव से लेकर सकल तक सात प्रमाताओं के स्वरूप वाला है।❀

यद्यपि वह (आत्मा) १—चित्, २—आनन्द, ३—इच्छा, ४—ज्ञान, ५—क्रियास्वरूप वाला है तथापि अख्याति (अज्ञान) वश वह १—कला, २—विद्या, ३—राग, ४—काल, ५—नियति, कंचुकों[६४] (आवरणों) से ग्रस्त हो जाने के कारण (ढक जाने के कारण) पाँच स्वरूप वाला (जीव) हो जाता है। इस प्रकार पैंतीस तत्त्वमय के रूप में, सात प्रमाताओं के स्वभाव में, चित् इत्यादि पांच शक्तियों के रूप में जब यह भली भाँति पहचान लिया जाता है कि यह एक शिव ही है तब यह ज्ञान मुक्तिदायक होता है। नहीं तो (इनका भिन्न-भिन्न रूप ज्ञान) संसरण (जन्म-मरण) का कारण होता है।

❀ वे सात प्रमाता इस प्रकार हैं : १—शिव प्रमाता, २—मन्त्र महेश्वर, ३—मन्त्रेश्वर, ४—मन्त्र, ५—विज्ञानाकल, ६—प्रलयाकल, ७—सकल।

एवं च

तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥ ८ ॥

'सर्वेषां' चार्वाकादिदर्शनानां 'स्थितयः'–सिद्धान्ताः 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा 'भूमिकाः'।

तथा च

'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा।'

नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।

अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा-इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः।

और इस प्रकार

सूत्र ८—सब दर्शनों की स्थितियाँ उसकी (आत्मा की) भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं।

भाष्य :—सर्वदर्शनस्थितयः सर्वेषां दर्शनानां स्थितयः। अर्थात् सब दर्शनों—चार्वाक आदि दर्शनों की स्थितियां। स्थितियां का अर्थ है सिद्धान्त। तद्भूमिकाः—तस्य भूमिका अर्थात् उस (आत्मा) की नट के समान अपनी इच्छा से गृहीत कृत्रिम भूमिकाएँ। पूरे सूत्र का तात्पर्य है—

सभी दर्शनों के सिद्धांत आत्मा की नट के समान अपनी इच्छा से गृहीत कृत्रिम भूमिकाएँ हैं।

चार्वाक मतानुयायी कहते हैं—चैतन्य से विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। नैयायिक (न्याय दर्शन के सिद्धान्त को माननेवाले) इत्यादि❀ संसार दशा में ज्ञान इत्यादि गुणसमूहों के आधार बुद्धि तत्त्व को ही प्रायः आत्मा मानते हैं। अपवर्ग अर्थात् मोक्ष दशा में जब बुद्धि का उच्छेद हो जाता है (अर्थात् जब बुद्धि नहीं रह जाती) तब वे आत्मा को प्रायः शून्य ही समझते हैं।

जो अहं (मैं) की प्रतीति से जाना जाता है और सुखदुःखादि उपाधियों[६५] से ढका हुआ है वह आत्मा है—ऐसा माननेवाले मीमांसक लोग भी बुद्धि में ही चिपटे हुए हैं (अर्थात् बुद्धि को ही आत्मा समझते हैं)।

❀ इत्यादि से वैशेषिक समझना चाहिए।

ज्ञानसंतान एव तत्त्वम्--इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः। प्राण एव आत्मा--इति केचित् श्रुत्यन्तविदः।

असदेव इदमासीत्-इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः। माध्यमिका अपि एवमेव।

परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवाः-इति पाञ्चरात्राः परस्या प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः।

सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते।

सदेव इदमग्र आसीत्-इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः।

शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम् आत्मतत्त्वम्-इति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः। एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम्। एतच्च आगमेषु

सुगत[६६] के अनुयायी ज्ञानसन्तति (ज्ञान के सतत प्रवाह) को ही तत्त्व मानते हैं। इसलिए उनके दर्शन का भी बुद्धि के व्यापार में ही पर्यवसान है।

कुछ वेदान्त के जानकार कहते हैं कि प्राण ही आत्मा है।

(उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि) यह सब कुछ (पहले) असत् ही था। इसके आधार पर कुछ वेदान्ती) जो अभाव को ही ब्रह्म कहते हैं वे शून्यपद में ही प्रवेश कर स्थित हैं।

माध्यमिक[६७] लोग भी इसी प्रकार हैं (इसी दशा में हैं)। पाँचरात्रों[६८] का कहना है कि भगवान् वासुदेव ही सबसे उत्कृष्ट प्रकृति[६९] (कारण) हैं। जीव उनकी चिनगारी की तरह ही हैं। अतः जीव को परा (सर्वोत्कृष्ट) प्रकृति के परिणाम[७०] मानने के कारण वे अव्यक्त[७१] में ही चिपटे हुए हैं।

सांख्य[७२] इत्यादि प्रायः विज्ञानाकल[७३] भूमि का आश्रय लेते हैं।

पहले यह सत् ही था—(इस उपनिषद् वाक्य के आधार पर) दूसरे वेदान्ती लोग ईश्वर तत्त्व पद पर आश्रित रहते हैं (अर्थात् ईश्वरतत्त्व को सर्वोच्च पद मानते हैं)।

वैयाकरण[७४] लोग आत्मतत्त्व पश्यन्ती [७५] रूप में शब्द ब्रह्ममय[७६] है—यह मानते हुए सदाशिव पद में ही भटके रहते हैं (अर्थात् सदाशिव पद को ही परमार्थ समझ बैठते हैं)।

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥

इत्यादिना निरूपितम् ।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्–इति तान्त्रिकाः ।
विश्वमयम् इति–कुलाद्याम्नायनिविष्टाः ।
विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च–इति त्रिकादिदर्शनविदः ।

एवम् एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्यप्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः । अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा । मितदृष्टयस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः, येन देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते । यथोक्तम्

इसी प्रकार अन्य दर्शनों के विषय में भी अनुमान कर लेना चाहिए (कि वे त्रिक दर्शन के एक अंश तक ही परिसीमित हैं) । यही बात आगमों[७९] में भी (निम्नलिखित शब्दों में) कही गई है :

बौद्ध बुद्धितत्त्व में स्थित हैं, आर्हत [८०] गुणों में, वेदविद पुरुष में, और पाँचरात्रिक[८१]अव्यक्त में स्थित हैं—

तांत्रिक[८२]यह कहते हैं कि आत्मतत्व विश्व से परे है । कुल आदि[८३]आम्नायों (आध्यात्मिक शास्त्रों) में जिनका अनुराग है वे आत्मतत्त्व को विश्वमय कहते हैं ।

त्रिकादि[८४] दर्शन के जानने वाले कहते हैं कि आत्मतत्त्व विश्व से परे भी है और विश्वमय भी है ।

इस प्रकार जितने शास्त्र हैं वे सब चित् रूपी भगवान् की विभिन्न भूमिकाएँ हैं जिनको भगवान् अपने स्वातंत्र्य से प्रदर्शित करते हैं । इन भूमिकाओं के भेद उसी स्वातंत्र्य के आत्मगोपन और आत्मप्रकाशन के तारतम्य के कारण हैं । अतः, एक ही आत्मा यहाँ तक (इन शास्त्रों की भूमिकाओं में) व्याप्त है । जिनकी परिमित (सीमित) दृष्टि है वे एक-एक अंश में उस परमात्मा की इच्छा से भिन्न भिन्न भूमिकाओं से तादात्म्य स्थापित कर बैठते हैं और जब कि (शास्त्र द्वारा) यह स्पष्ट भी करा दिया जाता है कि पहले के (वर्णित) प्रमाताओं की व्याप्ति का सार देह इत्यादि तक ही सीमित है तब भी ऊपर कहे हुए (आत्मतत्त्व विश्व से परे और विश्वमय दोनों है) महाव्याप्ति को पर (उच्चतम)[८५] शक्तिपात के बिना नहीं प्राप्त कर पाते । जैसा कि कहा गया है ।

'वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम् ॥'

इति। तथा

'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।

इति।

'त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम् ॥'

इति च।

अपि च सर्वेषां दर्शनानां'-समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः 'स्थितयः'–अन्तर्मुखरूपा विश्रान्तयः ताः तद्भूमिकाः'–चिदानन्दघनस्वात्म-

---

वैष्णव इत्यादि जो (परिमित) विद्या[८६] के रँग से रंगे हुए हैं उस परम देव को नहीं जानते जो सर्वज्ञ है और ज्ञानस्वभाव वाला है। इसी प्रकार (स्वच्छन्द तन्त्र के १०वें पटल, श्लोक ११४१ में कहा गया है कि)

यह माया ही जो उन लोगों को (जो कि अन्य मार्गों के अनुयायी हैं) चक्कर में डाल देती हैं जो अमोक्ष (अन्य दर्शन और मार्ग जो मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकते) में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं और (नेत्र तन्त्र ८वें पटल के ३०वें श्लोक में कहा है)

"वे जो परिच्छिन्न (सीमित) को आत्मा समझ कर उसमें अनुराग रखते हैं (अर्थात् जो देह बुद्धि इ० को आत्मा समझ कर उनमें अनुराग रखते हैं) वे शिव रूपी परम पद को नहीं पहुँच सकते।

और भी (अर्थात् इस सूत्र की एक दूसरी भी व्याख्या है)। सर्वेषां दर्शनानां सब दर्शनों का अर्थात् नील सुख इत्यादि ज्ञानों का (इस दूसरी व्याख्या में दर्शन का अर्थ ज्ञान-सरणि नहीं है, ज्ञान है अर्थात् बाह्यज्ञान जैसे नील इत्यादि रंग, और आन्तर ज्ञान जैसे सुख इत्यादि) स्थितयः—स्थितियाँ अर्थात् अन्तर्मुख रूप विश्रान्तियाँ (इस व्याख्या में स्थिति का अर्थ सिद्धान्त नहीं, किन्तु अन्तर्मुख विश्रान्ति है)

तद्भूमिका :—तत्-उसकी अर्थात् चिदानन्दघन रूपी आत्मस्वरूप की भूमिकाएँ अर्थात् अभिव्यक्ति के उपाय (इस व्याख्या में भूमिका का अर्थ अवस्था या भेस नहीं है, किन्तु अभिव्यक्ति का उपाय है)।

स्वरूपाभिव्यक्त्युपायाः। तथा हि यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपे विश्राम्यति, तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः; अन्तः प्रशान्तपदावस्थितिः; तत्तदुदेष्यत्संतत्यासूत्रणम्;–इति सृष्टि-स्थितिसंहारमेलनरूपा इयं तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्टचादि भेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च, सदा पूर्णा च, कृशा च, उभयरूपा च अनुभयात्मा च अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।

उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञाटीकायाम्।

इस व्याख्या के अनुसार पूरे सूत्र का अर्थ इस प्रकार हुआ। सब दर्शनों (ज्ञानों) की स्थितियाँ अर्थात् अन्तर्मुख विश्रान्तियाँ उसकी अर्थात् उस शिव रूपी आत्मा की जिसका स्वरूप चित् और आनन्दघन है भूमिकाएँ अर्थात् अभिव्यक्ति के उपाय हैं। जब-जब (ज्ञान का) बहिर्मुख रूप स्वरूप में अर्थात् ज्ञाता के वास्तविक स्वभाव में विश्रान्ति प्राप्त करता है, तब-तब बाह्य वस्तुओं का उपसंहार अर्थात् समाप्ति या निराकरण हो जाता है, (दूसरे शब्दों में) तब-तब एक आन्तरिक शान्त पद में ठहराव हो जाता है और भिन्न-भिन्न उदय होने वाले ज्ञान क्रमों का प्रारम्भ भी यहीं से होता है—इस प्रकार यह पूज्य तुरीया संवित्[८७] जिसका स्वभाव है सृष्टि, स्थिति और संहार को एक में धारण किये रहना और जो सृष्टि आदि भेदों को बाहर प्रकट करती हुई, पुनः अपने भीतर उपसंहार करती हुई, सदा कृश होते हुए पूर्ण रहती हुई, दोनों रूप में (कृश और पूर्ण दोनों रूप में) और वस्तुतः इन दोनों में से किसी रूप में न रहती हुई, बिना क्रम के (अर्थात् सदा) स्फुरण करती हुई स्थित है।

[कुल चार विकल्प हो सकते हैं—(१) पूर्ण, (२) कृश, (३) पूर्ण और कृश दोनों एक साथ (४) न पूर्ण, न कृश। तुरीया इन चारों से परे हैं। भाव यह है कि यद्यपि तुरीया से ही सब सृष्टि होती है जो कि यह सिद्ध करता है कि सभी पदार्थ उसमें भरे पड़े हैं इसलिए वह पूर्ण है और यद्यपि तुरीया में ही सभी पदार्थों का संहार होता है अर्थात् तुरीया में ही सब पदार्थ समेट लिए जाते हैं जिससे ऐसा लगता है कि वह कृश है और उसे सभी पदार्थों को बटोर कर अपने को पूर्ण करना है, तथापि न वह कृश होती है, न पूर्ण। वह इन सब विकल्पों से परे हैं। तुरीया कोई भौतिक पदार्थ नहीं है जिसमें से कुछ निकल जाता है तो वह खाली हो जाता है और वापिस आ जाता है, तो भर जाता है। तुरीया तो एक संवित् शक्ति है जिसमें सृष्टि, स्थिति, संहार के कारण न कुछ घटता है, न कुछ बढ़ता है]

श्री प्रत्यभिज्ञा टीका में कहा भी है।

'तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति, पूर्णा च भवति'

इति। एषा च भट्टारिका क्रमात्क्रमम् अधिकमनुशील्यमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम् ॥ ८ ॥

यदि एवंभूतस्य आत्मनो विभूतिः, तत् कथम् अयं मलावृतः अणुः कलादिवलितः संसारी अभिधीयते ?—इत्याह

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ॥ ९ ॥

यदा 'चिदात्म' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छादिशक्तयः' असंकुचिता अपि 'संकोचवत्यो' भान्ति; तदानीमेव च अयं 'मलावृतः संसारी' भवति। तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् आणवं मलम्; ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं

अर्थों (पदार्थों, सभी प्रमेयों) को चाट लेने से अर्थात् ग्रास कर लेने से वह उठती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्फुरण करती है और इस प्रकार पूर्ण होती है। यदि इस पूज्य चेतना का अधिक अनुशीलन किया जाय तो वह भक्तों को क्रमशः अपने में मिला लेती है ॥ ८ ॥

यदि इस प्रकार वाले (जैसा कि ऊपर बतलाया गया है) आत्मा की (ऐसी) विभूति (महत्ता) है, तो यह (आत्मा) कैसे मल[८८] से ढका जाकर, कला[८९] इत्यादि कंचुकों से घेरा जाकर अणु (जीव) और संसारी (एक जीवन से दूसरे जीवन में संसरण करने वाला) कहा जाता है ?—इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं :—

सूत्र ९—जो चित्स्वरूप है वह शक्ति के संकोच से मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है।

भाष्य—जब परमेश्वर जो चित्स्वरूप है अपने स्वातंत्र्य से अभेद को लीनकर भेद का अवलम्बन करता है तब उसकी इच्छा तथा अन्य शक्तियाँ स्वभावतः असंकुचित होते हुए भी संकुचित जैसी लगने लग जाती हैं, तब यह जीव मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है। इस प्रकार परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूप इच्छाशक्ति जो स्वरूपतः अबाध है संकुचित होकर आणव मल बन जाती है जिसके द्वारा जीव अपने को अपूर्ण मानने लगता है। क्रम से संकोच के कारण भेद की अवस्था में ज्ञान शक्ति का सर्वज्ञत्व किंचिज्ज्ञत्व को पहुँच जाता है और अत्यन्त संकोच

मायीयं मलम्; क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप-संकोच-ग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते; स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ॥ ९ ॥

ननु संसार्यवस्थायाम् अस्य किंचित् शिवतोचितम् अभिज्ञानमस्ति येन शिव एव तथावस्थितः ?–इत्युद्घोष्यते 'अस्ति'–इत्याह

तथापि तद्वत् पञ्च कृत्यानि करोति ॥ १० ॥

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्

सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्' ॥

ग्रहण करने पर वह अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की अवस्था प्राप्त कर मायीयमल[९०] धारण कर लेती है जिसका स्वभाव है सब वस्तुओं को भिन्न रूप में जानना। क्रम से भेद की अवस्था में क्रियाशक्ति का सर्वकर्तृत्व (सब कुछ कर लेने की शक्ति) किंचित्कर्तृत्व (कुछ ही करने की शक्ति) की दशा को पहुँच जाता है और क्रियाशक्ति कर्मेन्द्रियरूप संकोच को ग्रहण करके अत्यन्त परिमित अवस्था को प्राप्त होकर कार्म मल[९१] को धारण कर लेती है जिसका स्वभाव है शुभ और अशुभ कर्मों का करना। इसी प्रकार सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व शक्तियाँ संकोच ग्रहण करके यथाक्रम कला, विद्या, राग, काल और नियति के रूप में भान होती हैं।[९२] इस रूप में यह जीव शक्ति में दरिद्र होकर संसारी कहलाता है। अपनी शक्तियों के विकास होने पर तो वह शिव ही है ॥९॥

प्रश्न यह है कि जब अणु (जीव) संसारी की अवस्था में रहता है तो क्या उस अवस्था में शिवत्व के अनुरूप कोई ऐसी पहिचान है जिससे यह जाना जा सके कि शिव ही इस प्रकार से (अर्थात् संसारी की दशा में) अवस्थित है ? शास्त्र यह घोषणा करता है कि हाँ, है। इसे (आगे का सूत्र) कहता है :—

सूत्र १०—इस दशा (संसारी की दशा) में भी उसी (शिव) के समान जीव पाँच कृत्य करता है।

यहाँ ईश्वराद्वयदर्शन[९३] का ब्रह्मवादियों[९४] से यह भेद है कि चित्स्वरूप भगवान् का श्रीमत् स्वच्छन्द इत्यादि शास्त्र में कहे हुए ढंग (निम्नलिखित) के अनुसार सदा पाँच प्रकार का कृत्य चलता रहता है : "मैं सृष्टि और संहार को

इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः। यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारणक्रमेण स्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति, 'तथा' संकुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि 'पञ्चकृत्यानि' विधत्ते। तथा हि

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः॥'

इति प्रत्यभिज्ञाकारिकोक्तार्थदृष्ट्या देहप्राणादिपदम् आविशन् चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। यथा च सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवतः, तथा मया वितत्य स्पन्दसंदोहे निर्णीतम्।

करनेवाले, विलय और स्थिति को करनेवाले, अनुग्रह करनेवाले और अपने सम्मुख नत (भक्त) के दुःख का नाश करनेवाले देव को प्रणाम करता हूँ" (स्वच्छन्द तंत्र प्रथम पटल, तृतीय श्लोक)। जिस प्रकार भगवान् अशुद्ध अध्वा[९५] में विस्तारक्रम से अपने स्वरूप का विकास रूप सृष्टि इत्यादि करते हैं, वैसे ही संकुचित चित्-शक्ति से संसार दशा में भी वह पंचकृत्य[९६] करते हैं। जैसा कहा गया है।

"इस प्रकार व्यवहार दशा में भी प्रभु देह इत्यादि में प्रवेश कर अपने भीतर प्रकाशमान अर्थ-समूह को अपनी इच्छा से बाहर व्यक्त करते हैं"। (ई० प्र० ६-७)।"

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कारिका में कहे हुए अर्थ की दृष्टि से चिद्रूप महेश्वर देहप्राण इत्यादि में प्रवेश करके बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नील इत्यादि विषयों को नियत देश, काल इत्यादि में आभासित करते हैं, तब नियत देश, काल इत्यादि में जो आभासित हो रहा है यह उनकी सृष्टिक्रिया है; विषयों का अन्य देश और काल में आभासित होना उनकी संहार क्रिया है। नील इत्यादि के आभास का बना रहना उनकी स्थापकता अथवा स्थितिक्रिया है; भेद से आभास होना उनकी विलयक्रिया[९७] है और विषयों का चित्प्रकाश के ऐक्य से प्रकाशित होना[९८] उनकी अनुग्रह--क्रिया है। भगवान् जिस प्रकार सदा पाँच प्रकार के कृत्य करते हैं उसे मैंने विस्तारपूर्वक 'स्पन्द संदोह' (नामक ग्रंथ) में स्पष्ट कर दिया है।

एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढप्रतिपत्त्या परिशील्यमान माहेश्वर्यम् उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम् । अत एव ये सदा एतत् परिशीलयन्ति, ते स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता-इत्याम्नाताः । ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः ।। १० ।।

न च अयमेव प्रकारः पञ्चविधकृत्यकारित्वे, यावत् अन्योऽपि कश्चित् रहस्यरूपोस्ति ।–इत्याह

आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-
विलापनतस्तानि ।। ११ ।।

'पञ्चविधकृत्यानि करोति' इति पूर्वतः संबध्यते । श्रीमन्महार्थ-दृष्ट्या दृगादिदेवीप्रसरणक्रमेण यत् यत् आभाति, तत् तत् सृज्यते; तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषं कंचित् कालं रज्यति, तदा स्थितिदेव्या

इस प्रकार अपने भीतर जो पाँच प्रकार का कृत्य चलता रहता है यदि अच्छी तरह समझ कर उसका परिशीलन किया जाय तो वह भक्तजनों के निकट प्रभु के महान् ऐश्वर्य को व्यक्त कर देता है । अतएव जो सदा इसका परिशीलन करते हैं वे विश्व को चित् का विकास समझ कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं—ऐसा आम्नायों (पराम्परागत शास्त्र) का कहना है । जो इस प्रकार परिशीलन नहीं करते, वे सब ज्ञेय विषयों को भिन्न समझते हुए बन्धन में ही पड़े रहते हैं ।। १० ।।

पाँच प्रकार के कृत्य करने का केवल यही एक प्रकार नहीं है, दूसरा भी रहस्यरूप (पंचकृत्य) है—इस लिए अब सूत्रकार कहते हैं ।

सूत्र ११—प्रकाशन-आस्वादन, आत्मबोध, बीज का अवस्थापन, विलापन (भेद) से इनको अर्थात्

इन पाँच कृत्यों को करता [९९] है । इस प्रकार इसका पूर्व (सूत्र) से संबंध है । महार्थदृष्टि से[१००] (क्रमशास्त्र की दृष्टि से) नेत्रेन्द्रिय इत्यादि देवियों के प्रसरण क्रम से (अर्थात् भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के कार्य के द्वारा) जो कुछ प्रकाशित होता है वह सृष्टि है (यह आभासन वा प्रकाशन है) । सृष्टि हो जाने पर (अर्थात् किसी पदार्थ के प्रकाशन हो जाने पर) विना आँख बन्द किये हुए कुछ काल तक जब जीव उसमें आस्वादन वा आनन्द लेता है, तब स्थिति देवी द्वारा वह (अनुभव में) स्थापित किया जाता है । (यही स्थिति है) । विमर्शन जिसकी दूसरी संज्ञा

तत् स्थाप्यते; चमत्कारापरपर्यायविमर्शनसमये संह्रियते। यथोक्तं श्रीरामेण—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः॥

इति। यदा तु संह्रियमाणमपि एतत् अन्तः विचित्राशङ्कादिसंस्कारम् आधत्ते, तदा तत् पुनः उद्भविष्यत्संसारबीजभावमापन्नं विलयपदम् आध्यारोपितम्। यदा पुनः तत् तथा अन्तःस्थापितम् अन्यत् वा अनुभूयमानमेव हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्त्या चिदग्निसाद्भावम् आपद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्णाति एव। ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा सन्निहितमपि सद्गुरूपदेशं विना न प्रकाशते, इति सद्गुरुसपर्यैव एतत्प्रथार्थम् अनुसर्तव्या॥ ११॥

यस्य पुनः सद्गुरूपदेशं विना एतत्परिज्ञानं नास्ति, तस्य अवच्छादितस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवति। –इत्याह

चमत्कार[101] है–के समय (उस पदार्थ का) संहार[102] होता है (पदार्थ की यह अनुभूति संहार है)। जैसा कि श्रीराम ने कहा है "वह भेद का पर्वत, जिसका और लोग समाधिवज्र से भी भेदन नहीं कर सकते, वह उन लोगों के द्वारा जिन्होंने तुम्हारी भक्ति का बल प्राप्त कर लिया है, आत्मचेतनावत् प्रतीत होता है (परामृष्टः) और इस प्रकार वह (भेदपर्वत) नष्ट हो जाता है"।

जब (ज्ञानरूप में) सिमट जाने पर भी (साधक के) भीतर विचित्र शंका इत्यादि के संस्कार खड़े हो जाते हैं, तो फिर से होने वाले संसार के बीज भाव को पहुँचे हुए विलय (अर्थात् आत्मस्वरूप के गोपन) का अध्यारोप होता है। तब फिर वह (संसार बीज) अथवा भीतर में स्थापित और कुछ जिसका अनुभव हो रहा है हठपाक क्रम[103] से अलंग्रासयुक्ति[104] से चिदग्निसद्भाव को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् चित् रूपी अग्नि में जलकर चित्रूप ही हो जाता है) तो पूर्णता प्राप्त हो जाने के कारण वह (साधक) अनुग्रह का अनुभव करता है। इस प्रकार की पंचकृत्य की कर्तृता सबके लिए सदा निकट होने पर भी सद्गुरु के उपदेश के बिना नहीं होती। इसलिए इसके स्पष्ट होने के लिए सद्गुरुकी सेवा का अनुसरण करना चाहिए॥ ११॥

सद्गुरु के उपदेश के बिना जिसको यह ज्ञान (पंचकृत्य का ज्ञान) नहीं होता उसको अपनी ही उन शक्तियों से मोह (अज्ञान) होता है जिनका (अपना अपना) वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है।

तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता

संसारित्वम् ॥ १२ ॥

'तस्य' एतस्य सदा संभवतः पञ्चविधकृत्यकारित्वस्य 'अपरिज्ञाने'-शक्तिपातहेतुकस्वबलोन्मीलनाभावात् अप्रकाशने 'स्वाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं'-विविधलौकिकशास्त्रीयशङ्काशंकुकीलितत्वं यत्, इदमेव 'संसारित्वम्'। तदुक्तं श्रीसर्ववीरभट्टारके

'अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ॥

इति।

'मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः ॥'

इति च। तथा हि-चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इयं परा वाक्शक्तिः आदि-क्षान्त-रूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी, सा तावत् पश्यन्तीमध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपम् अप्रथयन्ती मायाप्रमातुः अस्फुटासाधारणार्थावभासरूपां प्रतिक्षणं नवनवां विकल्पक्रियामुल्लासयति'

सूत्र १२---संसारदशा उसके (पंचकृत्य के) अज्ञान के कारण अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाना है।

भाष्य---सूत्र में जो तत् शब्द आया है उसका अर्थ है 'सदा होते रहनेवाले पाँच प्रकार के कृत्यों के करने का'। 'अज्ञान' का अर्थ है शक्तिपात के कारण अपने बल का जो प्राकट्य होता है उसके अभाव के कारण अप्रकाशन (न प्रकाश होना)। 'अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाने का' अर्थ है नाना प्रकार की लौकिक और शास्त्रीय शंका रूपी कीलों से जकड़ उठना। यही संसार दशा है।

श्रीसर्ववीरभट्टारक में कहा है "लोगों में अज्ञान से ही शंका होती है और उसी से जन्म-मरण होता रहता है"। यह भी कहा गया है "सभी मंत्र[१०५] वर्णरूप (अक्षररूप) हैं और सभी वर्ण शिवरूप हैं।" तो फिर जो यह चित्प्रकाश से अभिन्न परावाक्[१०६] शक्ति है जो नित्योदित (नित्य उच्चरित) महामन्त्र रूप है जो पूर्ण अहं (मैं) ज्ञानरूपी है जो 'अ' से लेकर 'क्ष' तक[१०७] समस्त शक्ति-समूह को अपने गर्भ में धारण किये हुए है वही पश्यन्ती, मध्यमा[१०८] इत्यादि क्रम से ग्राहक (ज्ञाता) अवस्था को अवभासित करती है।

इसमें (अर्थात् ग्राहक भूमिका में) वह (शक्ति) अपने परारूप—जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है— का गोपन करती हुई मायाप्रमाता में प्रतिक्षण नई-नई

शुद्धामपि च अविकल्पभूमिं तदाच्छादितामेव दर्शयति । तत्र च ब्राह्म्यादिदेवताधिष्ठितककारादिविचित्रशक्तिभिः व्यामोहितो देहप्राणादिमेव परिमितम् अवशम् आत्मानं मन्यते मूढजनः । ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः परिमितविकल्पपात्रतामेव संपादयन्ति; पतिदशायां तु भेदे संहारम् अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्यः, क्रमात्क्रमं विकल्पनिर्ह्रासनेन श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीम् अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति ।

> सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
> विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।।'

इत्यादिरूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविकल्पशक्तिम् उल्लासयन्ति ततः उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम् ।

किंच चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-

---

विकल्प-क्रिया [१०९] को उल्लासित करती है जिस क्रिया द्वारा अस्फुट और विशेष पदार्थों का अवभास होता है, और अविकल्प-भूमि [११०] को जो अपने स्वरूप में शुद्ध ही है उसमें (विकल्प क्रिया से) आच्छादित रूप में प्रस्तुत करती है । ऐसी अवस्था में मूढ़जन ब्राह्मी इत्यादि देवताओं से अधिष्ठित ककार [१११] इत्यादि विचित्र शक्तियों से व्यामोहित होकर परिसीमित देह, प्राण इत्यादि को विवश होकर 'आत्मा' मान लेता है । ब्राह्मी आदि देवियाँ पशु दशा में (बद्धजीवदशा में) भेद की सृष्टि और स्थिति और अभेद का संहार अभिव्यक्त करती हुई पशु (बद्धजीव) में केवल परिमित विकल्प की पात्रता उत्पन्न करती हैं, पतिदशा में (मुक्तदशा में) ये भेद का संहार और अभेद की सृष्टि-स्थिति प्रकट करती हुई [११२] क्रमशः विकल्प को हटाती हुई महती अविकल्पभूमि को अभिव्यक्त करती हैं "जिसके द्वारा जीव भैरव मुद्रा [११३] में प्रवेश करता है और ये उस भूमि में शुद्धविकल्प शक्ति [११४] की अवतारणा करती हैं जो कि चिदानन्द के आवेश में मग्न रहती है (जिसके द्वारा जीव को इस प्रकार का अनुभव होता है) "जो यह जानता है कि सब कुछ मेरा ही (आत्मा का ही) वैभव है, जो यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व मेरा आत्मा ही है, उसमें विकल्पों [११५] के प्रकट होने पर भी महेशता [११६] वर्तमान रहती है (ई० प्र० आ० २, १२) । अतः जैसा ऊपर बतलाया गया है संसारदशा अपनी शक्तियों द्वारा मोहित हो जाना ही है ।

और भी भगवती चितिशक्ति ही संसार को वमन (सृष्टि) करने के कारण और संसार रूपी वाम (विपरीत) आचार के कारण वामेश्वरी [११७] कहलाती है

अन्तःकरण-बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां शून्य-पदविश्रान्ता किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति; भेदनिश्चयाभिमान-विकल्पनप्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते; भेदालोचनादिप्रधानबहिष्करण-देवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिताभेदप्रथात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरति; सर्वतो व्यवच्छिन्नाभासस्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वात्म्य-स्वरूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति। पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिश-क्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, अभेदालो-चनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च

और अपने खेचरी[११८] रूप के द्वारा सब प्रमाताओं के रूप में, गोचरी रूप के द्वारा सारे अन्तःकरणों के रूप में, दिक्चरी रूप के द्वारा सब बाह्य इन्द्रियों के रूप में, भूचरी रूप के द्वारा सारे पदार्थों के रूप में प्रकट होती हुई, पशुदशा (जीव-दशा) में शून्यपद में विश्राम करती हुई (अर्थात् आत्मस्वरूप को गोपन करती हुई) खेचरी चक्र (शक्तिसमूह) के द्वारा अपने पारमार्थिक चिद्गगनस्वरूप को छिपाती हुई किंचित्कर्तृत्व (थोड़ा-सा करने की शक्ति-रूपी) कलादिशक्ति के रूप में अवभासित होती है, गोचरीचक्र (गोचरी शक्ति समूह) के द्वारा अभेद-निश्चयात्मक जो अपना पारमार्थिक स्वरूप है उसे छिपाकर अन्तःकरण देवी[११९] रूप में प्रकाशित होती है जिसका (जिस अन्तःकरण का) प्रधान व्यापार है भेदका निश्चय (बुद्धिद्वारा) भेदाभिमान—अर्थात् भेद से (अनात्म से) तादात्म्य स्थापित करना अभिमान—अहंकार द्वारा) भेद–विकल्पन–अर्थात् पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करना (मन द्वारा), दिक्चरी चक्र (दिक्चरी शक्ति समूह) द्वारा अपने अभेद को प्रकाश करने वाले पारमार्थिक स्वरूप को छिपा कर बहि-ष्करण (बाह्य इन्द्रिय) देवता रूप में प्रकट होती हैं जिसका प्रधान व्यापार है भेद को ही देखना इत्यादि, भूचरी चक्र (भूचरी शक्ति समूह) द्वारा अपने अपने सार्वात्म्य स्वरूप को (अर्थात् सभी पदार्थ मैं ही हूँ इस भाव को) छिपाकर और पशु (जीव) के हृदय को व्यामोहित कर चारों ओर प्रमेयों (ज्ञेयों) के के रूप में भान होती है जिन प्रमेयों का स्वभाव है परस्पर पृथक्-पृथक् रूप में दिखलायी देना।

किन्तु पतिदशा में शक्ति सब कुछ कर डालने वाली चिद्गगनचरी के रूप में, अभेद का निश्चय इत्यादि करनेवाली गोचरी के रूप में, अभेद का प्रत्यक्ष इत्यादि सम्पन्न करनेवाली दिक्चरी के रूप में, प्रमेयों को अपने अंग के समान

भूचरीत्वेन पतिहृदयविकासिना स्फुरति । तथा च उक्तं सहजचमत्कारपरि-
जनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु

'पूर्णावच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः ।।'

इति । एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम् ।

अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैव स्फुरत्ता-सारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापान-समान-शक्तिदशाभिः जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तभूमिभिः देहप्राण-पुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति, तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम्; यदा तु

अभिन्न प्रकाश करना जिसका सार है ऐसे सामर्थ्यवाली भूचरी के रूप में (मुक्तदशा के जीव) के हृदय को विकसित करती हुई प्रकाशित होती है ।

भट्टदामोदर—जिसके प्रति उनके सहज चमत्कार (आध्यात्मिक आनन्द) से जनित (उत्पन्न) अकृत्रिम (स्वाभाविक) आदर होता है—अपने मुक्त स्तोत्रों में कहते हैं :—

वामेश्वरी आदि शक्तियाँ (खेचरी के रूप में) प्रमाता में अवस्थित होकर, (गोचरी के रूप में) अन्तःकरण में अवस्थित होकर, (दिक्चरी के रूप में) बहिष्करणों (बाह्य इन्द्रियों) में अवस्थित होकर (भूचरी के रूप में) भावों (पदार्थों) में अवस्थित होकर (जीव को) परिज्ञान (पूर्णज्ञान) द्वारा पूर्ण बनाते हुए मुक्ति देती हैं और अज्ञान द्वारा उसे अवच्छिन्न (परिमित) बनाते हुए बन्धन में डालती हैं। इस प्रकार अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित हो जाना ही (भ्रान्ति में पड़ जाना ही) संसारदशा है।

(नीचे आणवोपाय का संकेत है ।)

और भी चित्स्वरूप परमेश्वर की अपनी ऐश्वर्यशक्ति[120] है जो नाशरहित है, अनुपम है, जिसका सार स्फुरत्ता[121] (प्रकाश) है और जो कर्तृतारूप[122] है। वह (ऐश्वर्यशक्ति) जब अपने (वास्तविक) स्वरूप को छिपाकर पशु (परिमित प्रमाता बद्धजीव) की अवस्था में प्राण, अपान और समान शक्ति[123] की दशाओं से, जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति की भूमियों से, देह, प्राण और पुर्यष्टक[124] की कलाओं[125] से व्यामोह उत्पन्न करती है तो यही व्यामोह संसार की दशा जन्म-जन्मान्तर में संसरण करते रहना, (चक्कर काटते रहना) है। जब वह

मध्यधामोल्लासाम् उदानशक्तिं, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं, तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति । एवं त्रिधा स्वशक्ति-व्यामोहितता व्याख्याता । 'चिद्वत्' इति (९) सूत्रे चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी इत्युक्तम्, इह तु स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति,-इति भङ्‌ग्यन्तरेण उक्तम् । एवं संकुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति, तदा अयम्

'.................शरीरी परमेश्वरः ।'

इत्याम्नायस्थित्या शिवभट्टारक एव,-इति भङ्‌ग्या निरूपितं भवति । **यदागमः**

मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः ।'

इति । उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायाम्

(ऐश्वर्यशक्ति) चिदानन्दघनमय उदान[126] शक्ति को जो मध्यधाम[127] में विल-सित होती है और जो तुर्यदशावली[128] होती है, और चिदानन्दघनमय व्यान-शक्ति[129] को जो समस्त विश्व में व्याप्त हो जाती है और जो तुर्यातीत दशावाली[130] होती है उन्मीलित करती है, तब देह आदि के रहते हुए भी जीव पतिदशा[131] में पहुँच जाता है और उसकी जीवन में ही मुक्ति हो जाती है ।

इस प्रकार अपनी शक्तियों से ही व्यामोहित हो जाना—इसकी तीन प्रकार से व्याख्या की गई है 'चिद्वत् [132] सूत्र में (सूत्र ९) में यह कहा गया है कि चित्प्रकाश ही संकोच ग्रहण करके संसारी बन जाता है । यहाँ पर एक दूसरे दृष्टि-कोण से यह कहा गया है कि अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित हो जाने से ही जीव की संसारदशा होती है ।

इस प्रकार जिसकी शक्ति संकुचित हो गई है (अर्थात् अणु, जीव) वह जब अपनी शक्तियों से व्यामोहित नहीं होता तब प्राण इत्यादि धारण करते हुए भी वह आम्नाय की दृष्टि से शरीर धारण किया हुआ परमेश्वर है, पूज्य शिव ही है—यह प्रकारान्तर से निश्चित रूप से कहा जा सकता है । जैसा कि आगम ने कहा है :—

"मनुष्य के देह में स्थित होकर वे छिपे हुए परमेश्वर हैं" और ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा की टीका[133] में कहा गया है :—

'शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं
शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति ।'

इति ॥ १२ ॥

उक्तसूत्रार्थप्रातिपक्ष्येण तत्त्वदृष्टिं दर्शयितुमाह

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन
चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥ १३ ॥

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन प्रमेयदृष्टचा वितत्य व्याख्यातप्रायमेतत् सूत्रम्; शब्दसंगत्या तु अधुना व्याख्यायते । 'तस्य' आत्मीयस्य पञ्चकृत्यकारित्वस्य 'परिज्ञाने' सति अपरिज्ञानलक्षणकारणापगमात् स्वशक्तिव्यामोहिततानिवृत्तौ स्वातन्त्र्यालाभात् प्राक् व्याख्यातं यत् चित्तं' तदेव संकोचिनीं बहिर्मुखतां जहत्, 'अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात्, ग्राहकभूमिकाक्रमणक्रमेण संकोचकलाया अपि विगलनेन स्वरूपापत्त्या 'चितिर्' भवति; स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशति इत्यर्थः ॥ १३ ॥

"जो छत्तीसतत्त्वमय शरीर अथवा घट इत्यादि को शिव रूप से देखते हैं वे सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।" ॥१२॥

उपर्युक्त सूत्र के अर्थ को विपर्यय द्वारा तत्त्वदृष्टि को बतलाने के लिए कहते हैं ।

सूत्र १३—उसके पूर्ण ज्ञान होने पर चित्त[134] ही अन्तर्मुखी भाव से चेतनपद[135] पर पहुँच जाने से चिति[136] हो जाता है ।

भाष्य—ज्ञेय की दृष्टि से पूर्वसूत्र की व्याख्या के प्रसंग में इस सूत्र की भी विस्तृत रूप से प्रायः व्याख्या हो ही गई है । शब्द संगति से इस सूत्र की अब व्याख्या की जा रही है । सूत्र में जो तत् शब्द आया है उसका अर्थ है आत्मा के पंचकृत्य करते रहने का । 'परिज्ञाने' का अर्थ है पूर्णज्ञान होने पर अर्थात् अज्ञानरूपी कारण के हट जाने पर, अपनी ही शक्ति के द्वारा व्यामोहित हो जाने के स्वभाव के चले जाने पर स्वातन्त्र्य लाभ से पहले जिस चित्त की (सूत्र ५ में) व्याख्या हो चुकी है वही संकोचस्वभाववाली बहिर्मुखता को छोड़कर, अन्तर्मुखी भाव से चेतनपद पर चढ़कर अर्थात् क्रम से ज्ञाता (आत्मा) की भूमि तक उठ कर संकोच कला के विगलित हो जाने पर अपने (वास्तविक) स्वरूप की प्राप्ति से चिति हो जाता है । अर्थात् चित्त अपनी चिन्मयी परा भूमि में प्रवेश कर जाता है (चित्त अब अपनी परम अवस्था चित् में परिणत हो जाता है) ॥१३॥

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं, तत् अस्य मायापदेऽपि तथारूपेण भवितव्यं यथा जलदाच्छादितस्यापि भानोः भावावभासकत्वम् ।–इत्याशङ्क्य आह

चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया
मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥ १४ ॥

'चितिरेव' विश्वग्रसनशीलत्वात् 'वह्निः';' असौ एव 'अवरोहपदे-मायाप्रमातृतायां 'छन्नोऽपि'–स्वातन्त्र्यात् आच्छादितस्वभावोऽपि, भूरि-भूतिच्छन्नाग्निवत् 'मात्रया'–अंशेन, नीलपीतादिप्रमेयेन्धनं प्लुष्यति'–

यहाँ पर एक शंका होती है (ननु) 'यदि पारमार्थिक चित्शक्ति का ऐसा स्वभाव है कि वह सब भेदों को कवलित कर लेती है तो मायावस्था में भी उसे वैसा ही रहना चाहिए (अर्थात् उसे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ना चाहिए; मायावस्था में भी अभेद की प्रतीति होनी चाहिए) जैसे मेघ से आच्छादित रहने पर भी सूर्य पदार्थों को प्रकाशित करता ही है। (अर्थात् पदार्थों को प्रकाशित करना सूर्य का स्वभाव है और मेघ से आच्छादित होने पर भी वह अपने इस स्वभाव को नहीं छोड़ता, पदार्थों को प्रकाशित करता ही रहता है। इसी प्रकार यदि चित्शक्ति का सब भेदों को विलीन कर अभेद को व्यक्त करना स्वभाव है, तो माया से आच्छादित रहने पर भी उसे अभेद की प्रतीति करानी चाहिए। यहाँ चिति की उपमा सूर्य से दी गई है और माया की मेघ से)। इस शंका को उठा कर ग्रन्थकार कहते हैं :—

सूत्र १४––चिति रूपी अग्नि अवरोह पद में (मायासे) आच्छादित रहने पर भी प्रमेय (ज्ञेय, पदार्थ) रूपी इंधन को कुछ अंश में (कुछ सीमा तक) जला देती है।

भाष्य—चिति को यहाँ वह्नि (अग्नि) इसलिए कहा है क्योंकि (अग्नि के समान) उसका विश्व को खा जाने का स्वभाव है। यह अवरोह पद में—(अर्थात् परमशिव पद से नीचे उतरने के समय)––मायाप्रमाता (वह ज्ञाता जो माया से ग्रस्त है) की अवस्था में। छन्नोऽपि—अर्थात् अपने स्वातंत्र्य से ही (किसी दूसरे से विवश होने पर नहीं) माया द्वारा अपने स्वभाव के आच्छादित होने पर भी। जैसे आग बहुत राख (भूरिभूति) से ढके होने पर भी (इन्धन को जला देती है) उसी प्रकार 'चिति (चित्शक्ति) भी माया से ढके होने पर भी मात्रया अर्थात् कुछ अंश में, नील, पीत इत्यादि प्रमेय रूपी इन्धन को 'प्लुष्यति'

स्वात्मसात् करोति। मात्रापदस्य इदम् आकूतम्–यत् कवलयन् अपि सार्वा-त्म्येन न ग्रसते, अपि तु अंशेन; संस्कारात्मना उत्थापयति। ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातॄणां स्वानुभवत एव सिद्धम्। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निजस्तोत्रेषु

'वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्॥'

इति॥ १४॥

यदा पुनः करणेश्वरीप्रसरसंकोचं संपाद्य सर्गसंहारक्रमपरिशीलन-युक्तिम् आविशति तदा

'जला देती है' अर्थात् आत्मसात् कर लेती है। (कहने का तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय चिति द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता है अर्थात् जब ज्ञेय ज्ञान बन जाता है, तब ज्ञेय का ज्ञान से भेद मिट जाता है, तब ज्ञेय ज्ञान का ही अंश हो जाता है) 'मात्रा' (अंश) शब्द का यहाँ यह भाव है कि चिति ज्ञेय को कवलित करने पर भी उसे पूर्ण रूप से ग्रसित नहीं कर लेती, किन्तु अंश में ही ग्रसित करती है। (अंश में ही ग्रसित करती है इसलिए कहा है क्योंकि) वह उसे (ज्ञेय को) संस्कार द्वारा पुनः उत्थापित कर देती है।। अर्थात् ज्ञेय पूर्णरूप से ज्ञान मे नहीं परिणत हो जाता।वह संस्कार रूप में चित्त में रहता है और उपयुक्त अवसर पर पुनः ज्ञेय के रूप में प्रकट होता है)। सब प्रमाताओं (ज्ञाताओं) में ग्रसन करने की शक्ति है (अर्थात् ज्ञेय को ज्ञान बना लेने की शक्ति है) यह तो प्रत्येक को अपने अनुभव से ही सिद्ध है। जैसा कि श्रीमदुत्पलदेव [१३७] ने अपने स्तोत्रों में कहा है।

सभी जीव-ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र[१३८] विश्व को ग्रसित करते रहते हैं (अर्थात् सब ज्ञेय को ज्ञान का ही अंश बनाते रहते हैं) इसलिए हे देव मैं आपके रूप वाले विश्व की बन्दना करता हूँ। (शिवस्तो० २०, १७) (भाव यह है कि सभी जीव विषयों का आहार करते रहते हैं। आप विश्व अर्थात् सब कुछ का आहरण कर लेते हैं। इसलिए विश्व आपका स्वरूप ही है) ॥१४॥

जब फिर (साधक) इन्द्रिय देवियों के प्रसार का सम्पादन करके क्रम से सर्ग (भावों या पदार्थों की सृष्टि अर्थात् बहिः स्थापन) के अभ्यास के उपाय का आलम्बन करता है और संकोच का सम्पादन करके (अर्थात् इन्द्रियों को भीतर प्रतिसंहृत करके) संहार भावों या पदार्थों वा ज्ञेयों को ज्ञान में परावृत्ति या प्रति संहृति) के अभ्यास के उपाय का आलम्बन करता है, तब

बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ॥ १५ ॥

चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपम् उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम्; यथोक्तं

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः·········' ।

इति। एवं च 'बललाभे'-उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे' क्षित्यादि-सदाशिवान्तं 'विश्वम् आत्मसात् करोति'-स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति। तदुक्तं पूर्व-गुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु

'यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति, तथा
विषयपाशान् भक्षयेत्'

इति।

'न चैवं वक्तव्यम्-विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की। कथम् उपादेया इयं स्यात् इति; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन

सूत्र १५—चिति (चित् शक्ति) के स्वभावसिद्ध) बल को प्राप्त करने पर वह (साधक) विश्व को आत्मसात् कर लेता है (अपने स्वरूप में समीकरण कर लेता है)

भाष्य—चिति अर्थात् चित् शक्ति ही का देह, प्राण इत्यादि कोशों को दबा कर अपने उभार से अपने स्वरूप का उन्मेष 'बल' कहलाता है। जैसा कि कहा गया है (स्पन्दकारिका नि० २ का० १० में) "तब उस (चिति) के बल को प्राप्त करके मन्त्र[१३९] सर्वज्ञ के बल से सम्पन्न हो जाते हैं ई०।"

इस प्रकार जब (चिति का) बल प्राप्त हो जाता है अर्थात् जब कोई अपने उस वास्तविक स्वरूप का आश्रय ग्रहण करता है जो कि अब आविर्भूत हो गया है, तब वह पृथिवी से लेकर सदाशिव तक सारे विश्व को आत्मसात् कर लेता है अर्थात् विश्व को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में भासित करता है। यही बात पूर्व आचार्यों ने क्रमसूत्र में अपने निराले ढंग से कही है। "जैसे प्रज्वलित आग बन्धन को जला डालती है, वैसे ही साधक को विषय बन्धनों को आत्मसात् कर लेना चाहिए।"

ऐसा नहीं कहना चाहिए वह समावेश भूमि जिसमें विश्व का आत्मसात्कार हो जाता है कभी-कभी ही होती है। तो फिर यह कैसे ग्रहण करने योग्य मानी जा सकती है। (यह शंका ठीक नहीं है)—क्योंकि देह इत्यादि के आविर्भाव

इदम् अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति। वस्तुतस्तु चितिस्वातन्त्र्यावभासितदेहाद्युन्मज्जनात् एव कादाचित्कत्वम्। एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत। अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम्,

इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः ।। १५ ।।

एवं च

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ।। १६ ।।

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेशरूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्थानदशायां दलकल्पतया देहप्राणनीलसुखादिषु आभासमानेषु अपि, यत्समावेशसंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाणयुक्तिक्रमोपबृंहितात् चिदैकात्म्यप्रतिपत्ति-

---

और तिरोभाव के कारण ही चिति की यह दशा कभी-कभी होनेवाली (अस्थायी) जैसी लगती है। वस्तुतः समावेशभूमि का कादाचित्कत्व (कभी-कभी होनेवाली अवस्था) देह इत्यादि के आविर्भाव के ही कारण है (जिस देह इ० को) चिति अपने स्वातन्त्र्य से अवभासित करती है। सच बात तो यह है कि समावेशभूमि सदा प्रकाशमान है। यदि ऐसा न होता, तो देह इत्यादि का भी प्रकाश न होता। इसलिए अभ्यास (साधना योग का अभ्यास) प्रमाता का जो देह इत्यादि के साथ मिथ्या तादात्म्य है उसे हटाने के लिए है, उस प्रमातृता (प्रमाता के भाव) को प्राप्त करने के लिए नहीं है जिसका स्वभाव ही सदा प्रकाशमानता है। यही श्रीप्रत्यभिज्ञाकार का कहना है ।।१५।।

इस प्रकार—

सूत्र १६—चिदानन्द लाभ होने पर देह इत्यादि का अनुभव होने पर भी चित् से एकात्मता का बोध दृढ़ हो जाता है। यही अवस्था जीवन्मुक्ति (जीते हुए भी मुक्ति का बोध) कहलाती है।

भाष्य— समावेश[१४०] रूप चिदानन्द के प्राप्त होने पर जिसमें समस्त विश्व से एकात्मता का बोध होता है, व्युत्थानदशा[१४१] में परत के समान देह, प्राण, नील, सुख[१४] इत्यादि का भान होते हुए भी समावेश के संस्कारबल से और उस युक्ति-

दार्ढ्यम्'–अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव 'जीवन्मुक्तिः'–जीवतः प्राणान् अपि धारयतो मुक्तिः; प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपविद्राविताशेषपाशराशित्वात्। यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥'

इति॥ १६॥

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ?–इत्याह

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः॥ १७॥

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचित् अपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती 'मध्यम्'। सा तु मायादशायां तथाभूतापि स्वरूपं गूहयित्वा

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता'

क्रम से पुष्ट हो जाने से जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा जो चित् के साथ तादात्म्य के बोध की दृढ़ता हो जाती है वही जीवन्मुक्ति है। दृढ़ता का अर्थ है—चित् के साथ एकात्मता के बोध का अविचल हो जाना। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीते हुए अर्थात् प्राणों को धारण करते हुए भी मुक्ति, क्योंकि उस समय अपने स्वरूप की पहिचान के द्वारा सभी बन्धन-समूह छिन्न हो जाता है। जैसा कि स्पन्दशास्त्र (वसुगुप्त की स्पन्दकारिका नि० २, ५) में कहा है "जिसको इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान हो जाता है वह सब जगत् को शिव की क्रीड़ा के रूप में देखते हुए उससे (शिव से) युक्त रहने के कारण सदा जीते हुए भी मुक्त है। इसमें सन्देह नहीं।" ॥१६॥

तो चिदानन्द का लाभ किस प्रकार होता है ? इसके विषय में सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र १७—मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है।

भाष्य—भगवती संवित् (चित्-शक्ति ही) 'मध्य'[१४३] है क्योंकि यही सब कुछ के अन्तरतम रूप में विद्यमान है और क्योंकि किसी का भी स्वरूप ही नहीं सम्भव है जब तक कि वह संवित् रूप आश्रय से न लगा हो। उसने (संवित् ने) इस प्रकार होती हुई भी (अर्थात् सब कुछ का अन्तरतम तथ्य और आश्रय होते हुए भी) मायादशा में अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुए पहले संवित् प्राण

इति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादि-भुवम् अधिशयाना, नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता । तत्रापि च पलाशपर्ण-मध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्रात् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिब्रह्माश्रयमध्य-मनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता; तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात्, तत्रैव च विश्रामात् । एवंभूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता । यदा तु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति, यदि वा वक्ष्यमाणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति, तदा 'तद्विकासात् चिदानन्दस्य' उक्तरूपस्य 'लाभः'—प्राप्तिर्भवति । ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः ॥ १७ ॥

मध्यविकासे युक्तिमाह

विकल्पक्षय-शक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्त-कोटिनिभालनादय इहोपायाः ॥ १८ ॥

में परिणत हुई' इस नीति के अनुसार प्राणशक्ति[१४४] भूमि को स्वीकार करके अवरोह क्रम से बुद्धि देह इत्यादि भूमियों में रहती हुई सहस्र नाड़ी के मार्ग का अवलम्बन किया । वहाँ भी (अर्थात् व्यक्ति में भी) वह मुख्यतः ब्रह्मरन्ध्र[१४५] से अधोवक्त्र[१४६] तक पलाशपत्र[१४७] की मध्य तन्तुके समान मुख्यतः मध्यम नाड़ी[१४८] के रूप में स्थि है जिसका आश्रय प्राणशक्ति रूपी ब्रह्म है । (उसको मध्यमनाड़ी इसीलिए कहते हैं) क्योंकि सभी चित्तवृत्तियों का वहीं से उदय होता है और वहीं लय होता है । इस प्रकार होते हुए भी वह पशुओ के लिए (अर्थात् अज्ञानी जीवों के लिए) अपने स्वरूप को छिपाये हुए स्थित है । जब कि सबके अन्तरतम में मध्यरूप से रहनेवाली भगवती संवित् का पहले कहे हुए युक्ति के क्रम से (पंचकृत्य[१४९] के अभ्यास से) विकास होता है अथवा आगे बतलाये जानेवाले क्रम से जब मध्यरूपी ब्रह्मनाड़ी[१५०] का विकास[१५१] होता है, तब उसके विकास से उक्त रूप चिदानन्द का लाभ अर्थात् प्राप्ति होती है । उसके अनन्तर पूर्ववर्णित जीवन्मुक्ति होती है ॥१७॥

मध्य के विकास में उपाय बतलाते हैं :—

सूत्र १८—विकल्प-क्षय, शक्ति का संकोच और विकास, बाहों का ध्वंस, आदि और अन्त कोटियों (अन्तों) का अभ्यास इत्यादि यहाँ (मध्य के विकास में) उपाय हैं ।

'इह' मध्यशक्तिविकासे 'विकल्पक्षयादय उपायाः'। प्रागुपदिष्टपञ्चविधकृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्वमध्यभूतायाः संविदो विकासो जायते– इति अभिहितप्रायम्। उपायान्तरम् अपि तु उच्यते;–प्राणायाममुद्राबन्धादिसमस्तयन्त्रणातंत्रत्रोटनेन सुखोपायमेव, हृदये निहितचित्तः, उक्तयुक्त्या स्वस्थितिप्रतिबन्धकं विकल्पम् अकिंचिच्चिन्तकत्वेन प्रशमयन्, अविकल्पपरामर्शेन देहाद्यकलुषस्वचित्प्रमातृतानिभालनप्रवणः, अचिरादेव उन्मिषद्विकासां तुर्य–तुर्यातीतसमावेशदशाम् आसादयति। तथोक्तम्

'विकल्पहानेनैकाग्र्यात्क्रमेणेश्वरतापदम्।'

इति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्। श्रीस्पन्देऽपि

'यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्॥'

इति। श्रीज्ञानगर्भेऽपि

भाष्य—इह : यहाँ अर्थात् मध्यशक्ति के विकास में विकल्पक्षय आदि उपाय हैं। यह पहले कहा ही जा चुका है कि संविद् (चेतना) जो कि सब कुछ का केन्द्र है—का विकास पहले बतलाये हुए पाँच प्रकार के कृत्यों के करने के अनुसरण से होता है। अब दूसरा उपाय भी बतलाया जा रहा है। एक सरल उपाय है जिसके द्वारा-प्राणायाम[१५२], मुद्रा[१५३], बन्ध[१५४] इत्यादि कष्टकर साधनाओं से छुटकारा पाया जा सकता है।

(वह उपाय यह है)—जब साधक अपने चित्त को हृदय[१५५] (संविद्) में स्थापित अर्थात् एकाग्र करके, बतलाये हुए उपाय से, अपनी वास्तविक दशा के बाधक विकल्प[१५६] को, बिना अन्य किसी प्रकार के चिन्तन के, रोक, कर, अविकल्प के आश्रय के द्वारा, जो देह इत्यादि से दूषित नहीं है ऐसी अपनी पारमार्थिक चेतना को प्रमाता (वास्तविक ज्ञाता) समझने का अभ्यास कर लेता है, तब वह शीघ्र ही विकास की ओर उन्मुख हुई तुर्य[१५७] और तुर्यातीत[१५८] में समावेश की दशा को प्राप्त कर लेता है जैसा कि श्री ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया है :—

"साधक विकल्प के त्याग से और एकाग्रता से, क्रमशः ईश्वरता पद को प्राप्त कर लेता है (दे० ई० प्र० च० अ०, प्र० आ०, का० ११)।"

श्री स्पन्द में भी कहा है :—

"जब (मानसिक) क्षोभ लीन हो जाता है, तब परम पद की प्राप्ति होती है" (दे० स्पन्द का० नि० १ का० ९)

'विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम् ।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी ॥'

इति । अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः । शक्तिसंकोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः, तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते; बहुषु हि प्रदर्शितेषु कश्चित् केनचित् प्रवेक्ष्यति इति ।

'शक्तेः संकोच'—इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम् । यथोक्तम् आथर्वणिकोपनिषत्सु कठवल्ल्यां चतुर्थवल्ली प्रथममन्त्रे ।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

श्री ज्ञानगर्भ में भी (कहा गया है) : "हे जननी, जब लोग सारी मानसिक क्रियाओं को छोड़कर, इन्द्रियों की क्रियाओं की अनुसरण रूपी परतन्त्रता से मुक्त होकर शुद्ध भाव में स्थित होते हैं तब तुम्हारे अनुग्रह से तत्काल उस उत्कृष्ट दशा की अनुभूति होती है जो कि अक्षुण्ण निरुपम सुख रूपी अमृत की वर्षा करती है ।"

यह उपाय सर्वप्रथम कहा गया है, क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ है और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में प्रतिपादित हुआ है । शक्ति का संकोच इत्यादि उपाय यद्यपि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में नहीं प्रतिपादित हुए हैं, तथापि वे आगम की परम्परा द्वारा विहित हैं, इसीलिए प्रसंगवश हम उन्हें भी बतला देते हैं । बहुत से उपाय बतलाये जाने पर कोई किसी एक उपाय से समावेश दशा में प्रवेश कर सकेगा ।

शक्ति संकोच :—इसका अर्थ है शक्ति का संकोच । इसका भाव है "इंद्रियों के द्वारा (विषयों की ओर) जाती हुई शक्ति का आकुंचन क्रम से (सिकोड़कर, समेट कर) प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख करना" । जैसा कि अथर्ववेद[१५९] की कठवल्ली—उपनिषद् की चतुर्थवल्ली के प्रथम मंत्र में कहा गया है :—

"स्वयम्भू (आप से आप होनेवाला अर्थात् प्रजापति) ने इंद्रियों को बहिर्मुखी बना दिया । इसलिए जीव बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥'

इति । प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम् । यथोक्तम् ।

'तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः ।'

इति ।

'शक्तेर्विकासः' अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इति । भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम् । यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत-
स्तिष्ठन्विश्वाधार एकोऽवभासि ।''

की ओर नहीं । कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अमृतत्व के अनुभव की इच्छा करता हुआ आँख को लौटा कर अन्तरात्मा को देखता है ।''

अथवा (शक्ति का संकोच हो सकता है) इंद्रियों की बाहर फैली हुई शक्ति को चारों ओर से बटोर कर भीतर की ओर पलटना जैसे कछुआ भय के समय अपने अंगों को सिकोड़ कर भीतर की ओर पलट लेता है । जैसा कि कहा है ''उसके पलटने पर नित्योदित[१६०] की स्थिति होती है ।''

शक्ति विकास—शक्ति का विकास होता है भीतर छिपी हुई शक्तियों का एक साथ ही सब इंद्रियों के प्रसार द्वारा ।

''लक्ष्य भीतर रहे, और दृष्टि बिना निमेष और उन्मेष के (अर्थात् आँख बिना बन्द या खोले हुए एकटक) बाहर की ओर रहे ।'' चित्त के भीतर अनुप्रवेश के साथ इन्द्रियों का बाहर फैलाव यह भैरवी मुद्रा है जैसा कि कक्ष्या-स्तोत्र में कहा है—''हे (शिव) दृष्टि इत्यादि सारी शक्तियों को अपनी चेतना द्वारा अपने-अपने विषय में एक साथ चारों ओर फेंक कर भीतर सुवर्ण स्तम्भ के समान (अचल रूप से) वर्तमान रहते हुए तुम्हीं एक विश्व के आधार प्रतीत होते हो ।''

इति। श्रीभट्टकल्लटेनापि उक्तम्

'रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः।'

इति शक्तेश्च संकोचविकासौ, नासापुटस्पन्दक्रमोन्मिषत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनेन 'क्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे प्रसरविश्रान्तिदशापरिशीलनम्; अधःकुण्डलिन्यां च षष्ठवक्त्ररूपायां प्रगुणीकृत्य शक्तिं, तन्मूल-तदग्र-तन्मध्यभूमिस्पर्शावेशः। यथोक्तं विज्ञानभट्टारके

'वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत्।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते॥'

इति। अत्र वह्निः अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूः, विषस्थानम् प्रसरयुक्त्या विकासपदम्, 'विष्लृव्याप्तौ' इति अर्थानुगमात्।

भट्टकल्लट ने भी कहा है—"रूप इत्यादि के रहते हुए भी परिणाम द्वारा (अर्थात् रूप इत्यादि के अनुभव के समय जो चेतना बाहर की ओर जाती हुई प्रतीत होती है उसके विषय में यह बोध बनाये रखना कि यह वही है जो आन्तरिक चेतना है) उसकी (अर्थात् शक्ति विकास की) सिद्धि होती है।"

शक्ति का संकोच-विकास इस प्रकार होता है। ऊर्ध्वकुण्डलिनी[१६१] में प्रसर (फैलाव) और विश्रान्ति (रुकाव) दशा का (मानसिक) अभ्यास विकास है जो दशा कि सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा भ्रूभेद से (अर्थात् भौहों के बीच प्राण के निरोध से क्रमशः प्राप्त होती है और जो सूक्ष्मप्राणशक्ति नाक के भीतर के वायुस्पन्दन के नियमन से विकसित होती है और शक्ति का संकोच षष्ठवक्त्ररूपी[१६२] (छठें अवयव रूपी) अर्थात् छठें अवयव मेढ्रकन्द में स्थित अधःकुण्डलिनी[१६३] में, प्राणशक्ति को पुष्टकर, उसके (अधःकुण्डलिनी के) मूल, मध्य और अग्रभाग में समावेश है। जैसा कि आदरणीय विज्ञान भैरव [६८ वें श्लोक] में कहा है :—"सुखमय चित्त को 'केवल' रूप में [अर्थात् विषय सम्बन्ध से रहित] अथवा वायु द्वारा पूर्ण रूप में [अर्थात् मध्य नाड़ी में स्थित बिना क्रम के उच्चार से स्वररहित व्यञ्जन मात्र रूप प्राणवायु से भरे हुए रूप में] वह्नि और विष[१६४] के बीच में फेंकना चाहिए (अर्थात एकाग्र करना चाहिए) (उस दशा में योगी) स्मरानन्द[१६५] अर्थात् कामानन्द से युक्त होता है।"

यहाँ पर (प्राण के मेढ्रकन्द में) प्रवेश की प्रक्रिया से 'वह्नि' संकोचभूमि है। 'विषस्थान' प्रसर की युक्ति (उपाय) के द्वारा विकासपद है, क्योंकि 'विष' धातु का अर्थ ही है व्याप्त होना।[१६६]

'वाहयोः'—वामदक्षिणगतयोः 'छेदो'—हृदयविश्रान्तिपुरःसरम्। यथोक्तं ज्ञानगर्भे

'अनचकककृतायतिप्रसृतपार्श्वनाडीद्वय-
च्छिदो विधृतचेतसो हृदयपङ्कजस्योदरे।
उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्कुरो
य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम्॥

इति।

'आदिकोटिः' हृदयम्, 'अन्तकोटिः' द्वादशान्तः; तयोः प्राणोल्लास-विश्रान्त्यवसरे 'निभालनं'—चित्तनिवेशनेन परिशीलनम्। यथोक्तं विज्ञानभैरवे

'हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥'

वाहयोः—दोनों वाहों का अर्थात् प्राण और अपान का जिनमें से अपान वामगत (सुषुम्ना की बाईं ओर) है, और प्राण दक्षिणगत (सुषुम्ना की दाहिनी ओर) है, छेद=हृदय में पहले रोककर अनचक (स्वर रहित) ककार, हकार इत्यादि वर्णों के उच्चारण से विच्छेद। जैसा कि ज्ञानगर्भ में कहा है।

"(हे जगदम्बे) उसके हृदयकमल के भीतर, जिसका चित्त स्थिर हो गया है, जिसकी दोनों (सुषुम्ना की दोनों ओर की) ओर फैली हुई नाड़ियाँ (अर्थात् सुषुम्ना की दोनों ओर की इडा, पिंगला की वायु) बिना स्वर के उच्चरित ककार के नियन्त्रण द्वारा निरुद्ध हो गई हैं, जिसका अंधकारकारक तम विदारित हो गया है, तुम्हारे ज्ञान का वह अंकुर उपजता है जो कि पशु में भी परमेशत्व उत्पन्न करने के लिए क्षमता रखता है।

(अब सूत्र में जो आद्यन्तकोटिनिभालन पद है उसका अर्थ बतलाते हैं)।

आदि कोटि—हृदय। अन्तकोटि=द्वादश (वारह अंगुलियों) का अन्तर। निभालन—इन दोनों (हृदय और द्वादशान्त) में प्राण के उमड़ने और समाप्त होने के अवसर पर चित्त को लगाने का अभ्यास[१६८]। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है :—

"हे सुभगे[१६९] (हे सुन्दरि) जिसकी इन्द्रियाँ हृदयाकाश में लीन हो गई हैं, जिसका चित्त हृदयकमल के भीतर प्रविष्ट हो गया है, जो और कुछ नहीं चिन्तन

इति । तथा

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥'

इति । आदिपदात् उन्मेषदशानिषेवणम्

'उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥'

इति स्पन्दे । तथा रमणीयविषयचर्वणादयश्च संगृहीताः यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे एव

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत् ॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥
यत्र तत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते ।

करता है (अर्थात् जो एकाग्रचित्त हो गया है), वह परम सौभाग्य को प्राप्त होता है ।" (वि० भै० श्लोक ४९) ।

इसी प्रकार (विज्ञानभैरव में ५९ वें श्लोक में कहा गया है) "जैसे कैसे भी और जहाँ कहाँ भी यदि कोई अपने चित्त को द्वादशान्त में लगावे तो प्रतिक्षण उसकी चित्तवृत्ति क्षीण होती जायगी और थोड़े ही दिनों में वह औरों से विलक्षण हो जायगा ।"

आदि शब्द से (अर्थात् सूत्र में जो आदि शब्द है उससे) उन्मेषदशा का अभ्यास (समझना चाहिए) । जैसा कहा है (स्प० का० नि० ३ का० ९) । "उसको उन्मेष[७०] समझना चाहिए; (कोई) स्वयं उसको देख ले (अर्थात् उसका स्वयं अनुभव कर ले)" इसी प्रकार रमणीय विषय का आस्वादन इत्यादि भी 'आदि' पद में संगृहीत है, जैसा कि श्री विज्ञानभैरव में ही कहा है :—

"जब कोई खान-पान से प्रकट होनेवाले आस्वाद के आनन्द के विस्तार का अनुभव करता है, तो उसे चाहिए कि वह उस आनन्द की पूर्णावस्था पर ध्यान करे । ऐसा करने से वह महानन्द से परिपूर्ण हो जायेगा ।

जब गीतादिविषयों के अनुपम आनन्द से कोई योगी एकात्म हो जाता हैं, तब ऐसा एकाग्र चित्त योगी तन्मय होने के कारण उस आनन्द से तादात्म्य का अनुभव करता है ।

इति । एवमन्यदपि आनन्दपूर्णस्वात्मभावनादिकम् अनुमन्तव्यम् । इत्येवमादयः अत्र मध्यविकासे उपायाः ॥ १८ ॥

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः, स एव च परमयोगिनः समावेश-समापत्त्यादिपर्यायः समाधिः, तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह

समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्या-
मर्शान्नित्योदितसमाधिलाभः ॥ १६॥

आसादितसमावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीव इव सानन्दं घूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्रलवम् इव चिद्गगन एव लीयमानं पश्यन्, भूयो भूयः अन्तर्मुखताम् एव समवलम्बमानो, निमीलन-समाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति । यथोक्तं क्रमसूत्रेषु

जिस किसी वस्तु से मन को प्रसन्नता प्राप्त होती है, साधक को चाहिए कि उसी पर ध्यान लगावे । (ध्यान के अभ्यास से) उसे उसमें से ही परमानन्द के स्वरूप का भान होगा[१७१] ।" (वि० भै० ७२, ७३, ७४ श्लोक)

ऐसे ही आनन्दपूर्ण आत्मा की अन्य प्रकार की भावनाओं का अनुमान किया जा सकता है । सूत्र में जो आदयः (इत्यादि) शब्द आया है वह मध्य के विकास के लिए इसी प्रकार के उपायों को इंगित करता है ॥ १८ ॥

मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है । यही (चिदानन्द का लाभ ही) परमयोगी का (वास्तविक) समाधि है जिसके समावेश[१७२] समापत्ति इत्यादि समानार्थवाची शब्द हैं । उसके (समाधि के) नित्य प्रकट रहने का निम्नलिखित उपाय कहते हैं ।

सूत्र १६—समाधि के संस्कार से परिपूर्ण व्युत्थान में बार-बार चित् (पारमार्थिक चेतना) के साथ अपने ऐक्य का चिन्तन करते रहने से शाश्वत (सदा प्रकट) समाधि का लाभ होता है ।

भाष्य—श्रेष्ठ योगी जिसने समाधि को प्राप्त कर लिया है, समाधि के आनन्द से संस्कार से मतवाले के समान आनन्द से झूमता हुआ, चिद्गगन में पदार्थों के समूह को शरदऋतु में बादल के टुकड़े के समान लीयमान देखता हुआ, बार-बार अन्तर्मुखता का अवलम्बन करता हुआ निमीलन[१७३] समाधि की प्रक्रिया द्वारा चित् (परमार्थ चेतना) से अपने ऐक्य का चिन्तन करता हुआ, जो व्युत्थान[१७४] समझा जाता है उस अवसर पर भी, समाधिरस से अभिन्न ही रहता है । जैसा कि क्रमसूत्र में कहा है :—

क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो
भवति साधकः । तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः;
आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात्
जायते;—इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं 'मुद्राक्रमः',

इति । अत्रायमर्थः सृष्टि-स्थिति-संहृतिसंविच्चक्रात्मकं 'क्रमं' मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तया 'क्रममुद्रया'; 'अन्तरिति'—पूर्णाहन्तास्वरूपया; 'बहिर्मुख'— इति, विषयेषु व्याप्तृतः अपि; 'समाविष्टः'— साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः 'साधकः'—परमयोगी भवति । तत्र च 'बाह्याद्' ग्रस्यमानात् विषयग्रामात् 'अन्तः' परस्यां चिति भूमौ, ग्रसनक्रमेणैव 'प्रवेशः'—समावेशो भवति । आभ्यन्तरात् चितिशक्तिस्व-

---

साधक अन्तःस्वरूप क्रममुद्रा[१७५] द्वारा बाहर की ओर देखते हुए भी समावेश की दशा में बना रहता है । इसमें (क्रम मुद्रा में) आवेश (समावेश) के प्रभाव से पहले चेतना का बाहर से भीतर की ओर प्रवेश होता है और फिर भीतर से बाहर की ओर प्रवेश होता है । इस प्रकार मुद्राक्रम बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूप का है ।

यहाँ पर (अर्थात् इस क्रमसूत्र का) यह अर्थ है :—क्रम=सृष्टि स्थिति और संहार रूपी चक्र अर्थात् फेरा (एक के बाद दूसरा निरन्तर होते रहना) । मुद्रा = मुद्रयति अर्थात् जो यह तुरीया चित्शक्ति (पहले से ही) अपने भीतर स्थित (सृष्टिस्थितिसंहार रूपी क्रम) को आत्मसात् कर लेती है । (मुद्रा = मुद्रयति इति मुद्रा अर्थात् आत्मसात् करती है = अपना लेती है) । तया क्रममुद्रया=उस क्रम मुद्राद्वारा । उस क्रममुद्रा द्वारा का पूरा अर्थ यह हुआ कि उस तुरीया चितिशक्ति के द्वारा जो अपने भीतर सृष्टि-स्थिति-संहार रूपी क्रम को मुद्रित कर लेती है अर्थात् (स्पष्ट रूप से) आत्मसात् कर लेती है । अन्तः-स्वरूपया=भीतरी स्वरूप से अर्थात् पूर्ण अहन्तारूपी स्वरूप से । बहिर्मुख विषयों में लगे हुए रहने पर भी । समाविष्टः = परमशक्ति के विकास को साक्षात् कर लेनेवाला । साधकः=परम योगी । क्रममुद्रया—भवति साधक :— इस पूरे वाक्य का यह अर्थ हुआ "साधक अर्थात् परमयोगी बहिर्मुख होते हुए भी अर्थात् विषयों में लगे रहने पर भी समाविष्ट रहता है अर्थात् परमशक्ति के विकास का अनुभव करता रहता है ।" किसके द्वारा ? अन्तःस्वरूप रूपी क्रममुद्रा के द्वारा अर्थात् जो पूर्णाहन्ता स्वरूपवाली तुरीया चितिशक्ति क्रम को अर्थात् सृष्टिस्थिति-संहार रूपी क्रम को मुद्रित कर लेती है अर्थात् आत्मसात् कर लेती है, उसके द्वारा ।

रूपात् च साक्षात्कृतात् 'आवेशवशात्'—समावेशसामर्थ्यात् एव 'बाह्य-स्वरूपे'—इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्त्या 'प्रवेशः'—चिद्रसाश्यानता-प्रथनात्मा समावेशो जायते; इति 'सबाह्याभ्यन्तरः अयं' नित्योदितसमावेशात्मा, 'मुदो'—हर्षस्य वितरणात् परमानंदस्वरूपत्वात् पाशद्रावणात् विश्वस्य अन्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्टयादि-क्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च 'क्रम' इति अभिधीयते इति ॥ १९ ॥

इदानीम् अस्य समाधिलाभस्य फलमाह

इसमें (क्रममुद्रा में) 'बाहर से' अर्थात् उन विषयपुञ्जों से जो ग्रहण किये जा रहे हैं 'भीतर' अर्थात् परम चितिभूमि में ग्रहण के द्वारा प्रवेश अर्थात् समावेश होता है। 'भीतर से' अर्थात् साक्षात् किये हुए चिति शक्तिस्वरूप से 'आवेशवश से' अर्थात् समावेश के प्रभाव से ही बाह्यस्वरूप में अर्थात् विषयपुंज में जो कि 'यह' के रूप में भासित होता है, वमनयुक्ति से अर्थात् बाहर की ओर प्रक्षेपण की प्रक्रिया से, 'प्रवेश' अर्थात् चित् रस का घनीभूततारूपी समावेश होता है। इस प्रकार यह मुद्राक्रम अथवा क्रममुद्रा 'सबाह्यान्तर' (बाह्य और आन्तरिक दोनों एक साथ) होता है। सबाह्यान्तर का तात्पर्य यह है कि वह नित्य प्रकट समावेश रूपी मुद्राक्रम होता है। इसको मुद्रा निम्न कारणों से कहा हैं :—

(१) परमानन्द स्वरूप होने से, 'मुद' अर्थात् आनन्द के वितरण के कारण (मुदं राति ददाति वितरति इति 'मुद्रा' इस व्युत्पत्ति से)

(२) पाश (बन्ध) विलयन के कारण (मुम् बन्धं द्रावयति इति मुद्रा-इस व्युत्पत्ति से)।

(३) विश्व का भीतरी तुरीया सत्ता में मुद्रित अर्थात् मोहरबन्द होने के कारण (मुद्रयति इति मुद्रा-इस व्युत्पत्ति से)।

[यहाँतक तो मुद्राका अर्थ हुआ। अब क्रम का अर्थ बतलाते हैं।]

यह क्रम इसलिए कहलाता है (१) क्योंकि वह सृष्टि इत्यादि (सृष्टि, स्थिति, संहार) के क्रम का प्रदर्शक है। (२) क्योंकि वह स्वयं सृष्टि इत्यादि क्रम में भासित होता है ॥ १९ ॥

अब इस समाधिलाभ का फल बतलाते हैं :—

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात्सदा-सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्ति-र्भवतीति शिवम् ॥ २० ॥

नित्योदिते समाधौ लब्धे सति, 'प्रकाशानन्दसारा'—चिदाह्लादैकघना 'महती मन्त्रवीर्यात्मिका'—सर्वमन्त्रजीवितभूता 'पूर्णा' पराभट्टारिकारूपा या इयम् 'अहन्ता'—अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः, तत्र 'आवेशात्' 'सदा कालाग्न्यादेः चरमकलापर्यन्तस्य विश्वस्य यौ 'सर्गसंहारौ'—विचित्रौ सृष्टि-प्रलयौ 'तत्कारि' यत् 'निजं संविद्देवताचक्रं' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्ति'—आसादनं 'भवति', प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः; इति'एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेव इति उपसंहारः—इति संगतिः। तत्र यावत् इदं किंचित् संवेद्यते, तस्य संवेदनमेव स्वरूपं; तस्यापि अन्तर्मुखविमर्शमया प्रमातारः तत्त्वम्; तेषामपि विगलितदेहाद्युपाधिसंकोचाभिमाना अशेषशरीरा सदा-शिवेश्वरतैव सारम्; अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेषविश्व-

---

सूत्र २०—तब (क्रममुद्रा सिद्धि के अनन्तर) प्रकाश और आनन्द का सार, महामन्त्र वीर्यरूप पूर्ण अहन्ता में समावेश होने से, अपने उस संवित् देवता के समूह पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है जो समूह सारे विश्व की सृष्टि और संहार करता रहता है। यह सब शिव का स्वभाव है।

नित्योदित (सदा प्रकट रहनेवाली) समाधि के प्राप्त होने पर जो यह पूर्ण परमोत्कृष्ट विमर्श रूपी अहन्ता[१७६] अर्थात् स्वाभाविक स्वात्मरूपी चमत्कार या आनन्द है, जो कि प्रकाशानन्द सार है अर्थात् जो सघन चिदानन्द का सार है, जो महामन्त्रवीर्यात्मक है अर्थात् जो सब मन्त्रों का जीवन स्वरूप है उसमें समावेश होने से कालाग्नि से[१७७] लेकर—अन्तिम कला तक विश्व का जो सर्गसंहार अर्थात् विचित्र सृष्टिप्रलय है उसका करनेवाला जो अपना संविद्देवता समूह[१७८] है उस पर ऐश्वर्य या प्रभुत्व की प्राप्ति होती है। यह ऐश्वर्य उस परम योगी को प्राप्त होता है जिसका वर्णन इस प्रसंग में हुआ है। यही इसका अर्थ है। सूत्र में जो 'इतिशिवम्' है उसका तात्पर्य यह है कि यह सब शिव का स्वरूप ही है। इति उपसंहार का द्योतक है। यही इन शब्दों का सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध में (यह ध्यान रखने की बात है कि) जो कुछ भी संवेद्य है अर्थात् जो कुछ भी प्रमेय है उसका स्वरूप संवेदन अर्थात् प्रमाण है और प्रमाण का भी तात्त्विक स्वरूप अन्तर्मुखी आत्मचेतनापूर्ण प्रमाता है। उन प्रमाताओं की भी सदाशिवेश्वरता सार है जिसमें देह इत्यादि संकुचित अनुबन्धों से तादात्म्य का भाव

चमत्कारमयः श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थः;—नहि पारमार्थिकप्रकाशावेशं विना कस्यापि प्रकाशमानता घटते—स च परमेश्वरः स्वातन्त्र्यसारत्वात् आदि-क्षान्तामायीयशब्दराशिपरामर्शमयत्वेनैव एतत्स्वीकृतसमस्तवाच्य-वाचकमयाशेषजगदानन्दसद्भावापादनात् परं परिपूर्णत्वात् सर्वाकाङ्क्षा-शून्यतया आनन्दप्रसरनिर्भरः; अत एव अनुत्तराकुलस्वरूपात् अकारात् आरभ्य शक्तिस्फाररूपहकलापर्यन्तं यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरश-मनरूपत्वात्; तत् अकार-हकाराभ्यामेव संपुटीकारयुक्त्या प्रत्याहारन्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतया स्फुरितम् अनुत्तर एव विश्राम्यति;—इति शब्दराशिस्वरूप एव अयम् अकृतको विमर्शः। यथोक्तं

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहं-भावो हि कीर्तितः।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च।'

विगलित हो गया है और जिसका शरीर समस्त विश्व है। उस सदाशिवेश्वरता का भी परम सार महेश्वर है जो उस समस्त विश्व के चमत्कार[१७९] से परिपूर्ण है जो कि प्रकाश के साथ एक सद्भाव[१८०] (एक होने के भाव) से घटित होता है। पारमार्थिक प्रकाश के संचार के विना कोई भी वस्तु प्रकाश (अभिव्यक्ति) में आ ही नहीं सकती।

वह परमेश्वर आनन्द के प्रसार से भरा हुआ है क्योंकि वह स्वातन्त्र्य का सार है क्योंकि 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अमायीय शब्द-राशि के परामर्श के कारण[१८१] अपनाये हुए समस्त वाच्यवाचकमय सम्पूर्ण जगत् रूपी आनन्द[१८२] के ऐक्यभाव से सम्पन्न होने से वह सर्वथा परिपूर्ण है और सब आकांक्षाओं से रहित है।

इसलिए अ से लेकर जो अनुत्तर (परम) अकुल[१८३] का स्वरूप है, शक्ति के प्राचुर्य और फैलाव स्वरूप 'ह' कला तक जो विश्व फैला हुआ है—क्ष तो फैलाव की समाप्ति का द्योतक मात्र है—वह विश्व 'अ' और 'ह' के संयोजन द्वारा प्रत्याहार[१८४] की तरह भीतर स्वीकार किया हुआ अविभाग (एकाकार) का द्योतक विन्दु[१८५] के रूप में फड़कता हुआ 'अनुत्तर' में (अर्थात् जिससे परे और कुछ नहीं है, परम शिव में) ही ठहरा हुआ है। इस प्रकार यह स्वाभाविक विमर्श (अहं की आन्तरिक अनुभूति) शब्दपुञ्ज रूप ही है। जैसा कि कहा गया है (दे० उत्पलदेव की अजडप्रमातृसिद्धि श्लो० २२, २३)।

"सभी वेद्य रूपी प्रकाश[१८६] की अपने भीतर विश्रान्ति 'अहंभाव' (आत्म-प्रतीति) कहलाता है। इसी विश्रान्ति को समस्त अपेक्षाओं के निरसन होने पर स्वातन्त्र्य, मुख्य कर्तृत्व और ईश्वरता कहते हैं।"

इति । एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणाम् उदयविश्रान्तिस्थानत्वात् एतद्बलेनैव तत्तदर्थक्रियाकारित्वात् महती वीर्यभूमिः । तदुक्तम्

'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा··· ···।'

इत्यादि

'··· त एते शिवधर्मिणः ॥'

इत्यन्तम् श्रीस्पन्दे । शिवसूत्रेषु अपि

'महाह्लदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः, (१ उ०-२२ सू०)

इति । तदत्र महामन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायाम् 'आवेशो'—देहप्राणादि-निमज्जनात् तत्पदावाप्त्यवष्टम्भेन देहादीनां नीलादीनामपि तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम् । तथा हि–देहसुखनीलादि यत् किंचित् प्रथते, अध्यवसीयते, स्मर्यते, संकल्प्यते वा, तत्र सर्वत्रैव भगवति चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति;—तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात् इति

यही अहन्ता महती शक्तिभूमि है (सब शक्तियों का महान् आधार) है, क्योंकि यही सभी मंत्रों के उदय और विश्रान्ति का स्थान है, क्योंकि इसी के बल से वे सारी क्रियाएँ होती हैं जिनसे किसी उद्देश्य की सिद्धि होती है ।

श्री स्पन्दकारिका में कहा गया है (स्प० का० द्वि० नि० १, १)

"इसी बल को पहुँच कर" यहाँ से लेकर वे "सब शिवात्म है" यहाँ तक ।

शिव सूत्र में भी कहा गया है :—

"यही वह महासरोवर [१८७] है जिससे तादात्म्य स्थापित करने से मंत्रशक्ति का अनुभव होता है ।" (१ उ०, २२ सूत्र) [यहाँ तक सूत्र के "प्रकाशानन्दसार" अंश पर भाष्य है । अब "महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्तावेशात्" इ० अंश पर भाष्य प्रारम्भ होता है] । यहाँ पर (इस सूत्र में) महामन्त्रशक्तिरूपी पूर्ण अहन्ता में आवेश कहने का तात्पर्य है 'देहप्राण इत्यादि के उसमें निमज्जन से अर्थात् उस पद की प्राप्ति की स्थिरता से देह, नील इत्यादि वेद्यों (ज्ञेयों) को उसके (पूर्ण अहन्ता के) रस में निमग्न कर तन्मय कर देना ।' देह, सुख नील इत्यादि जो कुछ प्रकाश में आ रहा है अथवा जो कुछ (बुद्धि के द्वारा) निश्चय किया जा रहा है, (मन के द्वारा) स्मरण किया जा रहा है अथवा संकल्प किया जा रहा है—इस सब में भगवती चितिशक्ति का प्रकाश पृष्ठभूमि होकर स्फुरण करता रहता है । यह ठीक ही कहा गया है कि बिना उसके (चितिशक्ति के) स्फुरण के कुछ भी प्रकाश में

उक्तत्वात् । केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा तन्मायाशक्त्या अवभासितदेहनीलाद्युपरागदत्ताभिमानवशात् भिन्न-भिन्नस्वभावा इव भान्ति ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिरूपतया मायाप्रमातृभिः अभिमन्यते; वस्तुतस्तु एकैव असौ चितिशक्तिः । यथोक्तम्

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥'

इति । तथा

'मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥

इति । एवम् एषा सर्वदशासु एकैव चितिशक्तिः विजृम्भमाणा यदि तदनुप्रवेश-तदवष्टम्भयुक्त्या समासाद्यते, तत् तदावेशात् पूर्वोक्तयुक्त्या करणोन्मीलननिमीलनक्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्तत्संहारादौ अपि 'सदा सर्वसर्गसंहारकारि' यत् 'सहजसंवित्तिदेवताचक्रम्'- अमायीयान्तर्बहिष्करणम-

---

नहीं आ सकता है । केवल इस प्रकार से स्फुरण करती हुई भी वह अपनी मायाशक्ति द्वारा जो देह, नील इत्यादि भासित हो रहे हैं उनके प्रभाव से वैसे ही मान बैठने के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाववाली प्रकाशित होती हुई मायाप्रमाताओं (जीवों) के द्वारा ज्ञान, संकल्प, निश्चय इत्यादि रूप में समझी जाती है । वस्तुतः यह चितिशक्ति एक ही है । जैसा कि कहा गया है—''

''यह जो संविद् भिन्न-भिन्न पदार्थों के क्रम से रञ्जित है वह (वस्तुतः) क्रम रहित (कालरहित) अनन्त (देशरहित) चित् रूप श्रेष्ठ प्रमाता महेश्वर ही है ।'' (ई० प्र० ज्ञानाधिकरण, ७ आ० १) ।

वैसे ही (उसी भाव का निम्नलिखित श्लोक भी है)

''प्रभु की मायाशक्ति के द्वारा, वही (चित् शक्ति ही) जिसके भिन्न-भिन्न ज्ञेय विषय हैं, ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय (निश्चय) इत्यादि नामों से कही जाती है ।''

इस प्रकार सभी दशाओं में वही एक ही चित्शक्ति है जो प्रकट होती हुई यदि अनुप्रवेश और स्थिरता की युक्ति से (जिसका वर्णन अठारहवें सूत्र में हो चुका है) उपलब्ध होती है, तब उसमें प्रवेश होने से पूर्वकथित युक्ति से, इंद्रियों के उन्मीलन (खोलने) और निमीलन (बन्द करने) के क्रम से सब कुछ सर्वमय होने के कारण-सब के संहार इत्यादि में भी—सदासृष्टि और संहार करने वाला जो स्वाभाविक ज्ञानरूपी देवता का समूह है अर्थात् जो कुछ भी अमायीय

रीचिपुञ्जः, तत्र 'ईश्वरता'--साम्राज्यं परभैरवात्मता, तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः। यथोक्तम्

'यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत्॥

इति। अत्र एकत्र इति

'एकत्रारोपयेत्सर्वम् ... ।'

इति। चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या। तस्य इति अनेन

'पुर्यष्टकेन संरुद्ध ... ... ।'

इति उपक्रान्तं पुर्यष्टकम् एव परामृष्टव्यम्; न तु यथा विवरणकृतः 'एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा' इति व्याकृतवन्तः। स्तुतं च मया

'स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः।
संवित्ति देवताचक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ॥

इति। इतिशब्द उपसंहारे, यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत् सर्वं 'शिवम्-

---

आन्तर और बाह्य इन्द्रियों का प्रभापुञ्ज है उस सब पर परम योगी को ईश्वरता अर्थात् साम्राज्य या परभैरवात्मता प्राप्त हो जाती है। जैसा कि कहा गया है।

"जब कोई एक ही स्थान में (अर्थात् पूर्णाहन्ता के स्पन्दतत्त्व में) समाविष्ट हो जाता है, तब उसके (अर्थात् पुर्यष्टक के, और निमीलन और उन्मीलन समावेश से उसके द्वारा विश्व का भी) लय (संहार) और उद्भव (सर्ग) को वश में करता हुआ (वास्तविक) भोक्तृता को प्राप्त होता है और चक्र (इंद्रिय देवताओं के समूह) का अधिपति हो जाता है।" (स्प० का० ३, १९)।

यहां पर 'एकत्र' निम्नलिखित कारिका में समझाया गया है। "एकत्र (एक ही स्थान में) सब कुछ स्थापित करना चाहिए" (स्प० का० ३, १२)। इसमें 'एकत्र' की व्याख्या करनी चाहिए "चित् का सामान्यस्पन्द उन्मेषस्वरूप"। 'तस्य' अर्थात् 'उसके' से 'पुर्यष्टक' ही समझना चाहिए क्योंकि इसके पूर्व में कहा गया है "पुर्यष्टकेन संरुद्ध" (स्प० का० ३, १७) (अर्थात् पुर्यष्टक से आवद्ध)। उसको वैसा नहीं समझना चाहिए जैसा कि विवरणकार[१८८] ने व्याख्या की है "एकत्र अर्थात् सूक्ष्म या स्थूल शरीर में।" जैसा कि मैंने एक स्तुति में कहा है :—

"जो अन्तः और बाह्य इन्द्रियों की अधिशासी संवित् शक्ति के समूह[१८९] से सेवित होता हुआ चितिचक्र का स्वतन्त्र चक्रवर्ती सम्राट्[१९०] और महेश्वर हो जाता है ऐसा बिरला व्यक्ति (वास्तविक) जय लाभ करता है।"

सूत्र में जो 'इतिशिवम्' पद आया है उसमें 'इति' शब्द उपसंहार के अर्थ

शिवप्राप्तिहेतुत्वात् शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वात् च शिवमयमेव इति शिवम् ॥

देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम् ।
मध्ये बोधसुधाब्धिविश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः ॥

येषां वृत्तः शांकरःशक्तिपातो
येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः ।
शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रत्यभिज्ञा-
मुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः ॥

समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ॥

कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः
श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य ॥
शुभमस्तु ॥

में प्रयुक्त हुआ है—और शिव शब्द का भाव यह है कि इस छोटे ग्रन्थ (प्रकरण) का जो शरीर है (अर्थात् इस छोटे से ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है) वह सब शिव हैं अर्थात् शिव की प्राप्ति का साधन है, और वह सब इसलिए भी शिव है क्योंकि वह शिव द्वारा विस्तृत रूप से कहा गया है, शिवस्वरूप से अभिन्न है और शिव ही है ।

"देह प्राण, सुख इत्यादि से प्रतिक्षण घिरा हुआ मनुष्य अपनी इस चिति को जो महेश्वर स्वरूप है, जो पूर्ण आनन्दघन है नहीं पहचानता । किन्तु जो इस उपदेश से ज्ञानरूपी अमृत समुद्र में विश्व को चारों ओर उसके फेनपिण्ड के समान देखता है वह साक्षात् शिव ही कहा जाता है ।

जिनमें शंकर का शक्तिपात हो गया है किन्तु जो अभ्यास न होने के कारण प्रखर तार्किक चिन्तन में असमर्थ हैं और इसलिए ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (उत्पलदेव द्वारा लिखा हुआ ईश्वर प्रत्यभिज्ञाग्रंथ) नहीं समझ सकते उनके लिए यह तत्त्व का उपदेश (प्रत्यभिज्ञाहृदयम् नामक ग्रंथ द्वारा) कहा गया है ।

यह प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ग्रन्थ समाप्त हो गया है । यह पूज्य महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमान् अभिनवगुप्त के चरणकमल पर आश्रित श्रीमान् राजानक क्षेमराजाचार्य की कृति है । (सब का) कल्याण हो ।

टिप्पणियाँ

१. प्रत्यभिज्ञा :—'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है पहचान। किसकी पहचान? अपने स्वरूप की। यह शास्त्र यह बतलाता है कि जीव शिव ही है। व्यष्टि और समष्टि का आत्मा एक ही है।

संसार में आकर जीव अपने सच्चे स्वरूप को भूल जाता है और अपने स्थूल और सूक्ष्म देह ही को समझ बैठता है कि यह मैं हूँ। यह शास्त्र अपने सच्चे स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) करवाता है। इसलिए इसे प्रत्यभिज्ञादर्शन या प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र कहते हैं।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'प्रत्यभिज्ञा' की निम्नलिखित विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव लक्ष्यते-इति वक्ष्यते। प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका, स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्; लोकेऽपि एतत्पुत्र एवंगुण एव रूपक इत्येवं वा; अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा-इति व्यवह्रियते; नृपतिप्रति प्रत्यभिज्ञापितोऽयम्—इत्यादौ।

इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे, सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत्प्रतिसंधानेन ज्ञानम् उदेति, नूनं स एव ईश्वरोऽहम्-इति।'

अर्थात् प्रत्यभिज्ञा' शब्द प्रति+अभि+ज्ञा से बना हुआ है। प्रति का अर्थ है 'प्रतीप' (प्रतिकूल,); अभि का अर्थ है अभिमुख रूप से अर्थात् आमने-सामने, स्फुटरूप से, स्पष्टरूप से; ज्ञा का अर्थ है ज्ञान या प्रकाश 'ज्ञात होने पर भी विस्मृत तत्त्व का अभिमुख रूप से ज्ञान या प्रकाश' प्रत्यभिज्ञा है।' 'प्रतीपम्' का भाव यह है कि अपने आत्मा का पूर्व में अवभास न हुआ हो ऐसा नहीं है, क्योंकि वह अविच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहनेवाला तत्त्व है, किन्तु वह अपनी ही (स्वातंत्र्य) शक्ति से हटा हुआ जैसा, विभक्त हुआ जैसा जान पड़ता है—यह आगे बतलाया जायगा।

प्रत्यभिज्ञा का तात्पर्य है, पूर्व में भात (ज्ञात) का वर्तमान में भासमान (प्रतीत होता हुआ) के साथ एकीकरण, जैसे 'यह' (वर्तमान में भासमान)

'वही' (पूर्व में ज्ञात) चैत्र है।' दूसरे शब्दों में पूर्व में अनुभूत वस्तु का अभिमुख (सामने) होने पर प्रतिसंधान अर्थात् अनुस्मरण के बल से ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञा है। लोक में भी 'इसका पुत्र इस प्रकार के गुणवाला', 'इस प्रकार के रूपवाला' इसी प्रकार का ज्ञान है। अथवा सामान्यरूप से ज्ञात वस्तु का फिर सामने होने के अवसर पर अनुस्मरण द्वारा ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है ऐसा व्यवहार में पाया जाता है। 'राजा के प्रति इसका पहिचान कराया गया' इत्यादि में भी 'प्रत्यभिज्ञा' का व्यवहार देखा जाता है।

इस प्रसंग में भी प्रसिद्ध पुराण; सिद्धान्त, आगम, अनुमान इत्यादि के द्वारा पूर्ण शक्ति के स्वभाव वाले ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर, अपने आत्मा का स्फुटरूप से साक्षात्कार होने से प्रतिसन्धान (अनुस्मरण) के बल से दोनों ज्ञान के एकीकरण द्वारा जो यह ज्ञान उदय होता है कि निश्चित रूप से 'मैं वही ईश्वर हूँ' 'प्रत्यभिज्ञा' है। इस ग्रन्थ में क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञादर्शन का मर्म बतलाया है। इसीलिए उन्होंने इसका नाम रखा है 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।'

इस शास्त्रका यही संदेश है कि यदि कोई अपने सच्चे आत्मा को पहचान ले तो शरीर इत्यादि अनात्मा में जो आत्मबुद्धि है उससे वह छुटकारा पा जायगा और यह समझ लेगा कि उसका वास्तविक आत्मा विश्वात्मा शिव ही है।

इस शास्त्र का दूसरा नाम है **त्रिकदर्शन**। 'त्रिक' का अर्थ है 'तीन का समूह'। वे तीन निम्नलिखित है :—

(१) नर अर्थात् बद्ध जीव (२) शक्ति-शिव का तेज या पराक्रम, और (३) शिव जो नित्य पंचकृत्य करते रहते हैं।

इसका तीसरा नाम **स्पन्दशास्त्र** है। स्पन्द का अर्थ है क्रियाशीलता। इसको स्पन्दशास्त्र इसलिए कहते हैं क्योंकि शिव या शक्ति की क्रियाशीलता के कारण ही जगत् का अस्तित्व है।

२. **शिव**—इस शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति हो सकती है—(क) अदादिगण के 'शी' धातु से जिसका अर्थ होता है 'शयन करना'। जिसमें सब कुछ शयन करता है वह शिव है। (ख) दिवादिगण के 'शो' धातु से जिसका अर्थ होता है दुर्बल कर देना। जो सब दुःखों और पापों को दुर्बल कर देता है, वह शिव है। ये दोनों अर्थ 'शिव' शब्द में निहित हैं। शिव सब सृष्टि का अधिष्ठान है और वह परम कल्याणकारी भी है जो अपने अनुग्रह से सब जीवों का उद्धार करता है। वह तात्त्विक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से सबका मूल है। भोग भी उसी से होता है, और मोक्ष भी उसी से होता है।

प्रत्यभिज्ञा, त्रिक और स्पन्द शास्त्र के अतिरिक्त इसका नाम 'शैवदर्शन' या 'भैरवदर्शन' भी है। इसका शैव या भैरवदर्शन इसलिए नाम पड़ा क्योंकि यह शिव या भैरव को ही सारी सत्ता का मूल मानता है।

यह अद्वैत दर्शन है। दक्षिण के शैवदर्शन से (जो कि द्वैत हैं) पृथक् करने के लिए इसे कश्मीर का शैवदर्शन भी कहते हैं।

३. सततम्—'सततम्' का अन्वय 'नमः' अथवा 'पञ्चकृत्यविधायिने', दोनोंके साथ हो सकता है। सततम् नमः का अर्थ होगा शिवको मेरा बार-बार नमस्कार है। सततम् पञ्चकृत्यविधायिने का अर्थ होगा जो नित्य (बराबर) पञ्चकृत्य का करने वाला है उसे (मेरा नमस्कार है)। दूसरा अन्वय अधिक समीचीन है और इस शास्त्र की मूल दृष्टि से मिलता है।

४. पञ्चकृत्य—पाँच कार्य जो शिव सदा करता है निम्नलिखित हैं :—

(क) **सृष्टि :** यह शब्द सृज् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'अपने में से बाहर कर देना, छोड़ना, फेंकना, निकालना'। यह बहुत ही व्यञ्जक शब्द है। इसके भीतर एक तात्विक दृष्टि निहित है। सृष्टि का भाव यह है कि शिव के भीतर सब कुछ है, वह केवल उसे बाहर फेंक देता है। सृष्टि शिव का वैभव है जिसे वह बिखेर देता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि—शिव जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। वह एक कुम्भकार के समान नहीं है जो कि यदि बाहर से मिट्टी मिलती है, तब ही पात्र बना सकता है। उसकी शक्ति ही जगत्–रूप में प्रकट होती है।

(ख) **स्थिति :** सृष्टि के अनन्तर जगत् का ठहराव और पालन।

(ग) संहार अथवा संहृति : इसका अर्थ है समेट लेना, बटोर लेना। जिसका सर्जन किया था, जिसको बाहर फेंका था उसको पुनः समेट लेना। संहार का अर्थ विनाश नहीं है। जो वस्तु व्यक्त थी वह जब अव्यक्त हो जाती है तब ऐसा लगता है कि उसका विनाश हो गया। अतः गौण रूप से उसे लोग विनाश कह लेते हैं, किन्तु यह संहार का वास्तविक अर्थ नहीं है।

(घ) विलय, पिधान, तिरोधान अथवा निग्रह–अपने सच्चे स्वरूप का आवरण या गोपन कर देना।

(ङ) **अनुग्रह**—स्वरूप का प्रकाश :

ये पाँचों कृत्य शिव में स्वभावतः सदा होते रहते हैं। शिव अपने भीतर से जगत् को बहिर्मुख करता है (सृष्टि) उसे कुछ काल के लिए स्थित रखता है

(स्थिति), पुनः उसे अपने में समेट लेता है (संहार)। इन तीनों को मिलाकर कल्प कहते हैं। यह सदा चलता रहता है। एक कल्प के अनन्तर दूसरा प्रारम्भ होता है। ये तीनों कृत्य 'क्षेत्र' की दृष्टि से होते रहते हैं।

तिरोभाव और आविर्भाव, निग्रह और अनुग्रह 'क्षेत्रज्ञ' की दृष्टि से होते रहते हैं। वस्तुतः अनुग्रह या स्वरूप के पुनः प्रकाशन के लिए ही पूर्व के चारों कृत्य होते रहते हैं।

शिव अपने स्वातन्त्र्य से अपना गोपन करके जगत् में संसरण करता है और पुनः अपना प्रकाशन करके अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होता है। जीव जब स्वदेश (शिव-स्थिति) से कुछ काल के लिए वियुक्त होकर विदेश (संसार) में भ्रमण करके (प्रवृत्ति) पुनः स्वदेश में लौटता है (निवृत्ति) तब वह स्वदेश के मूल्य को और अच्छी तरह से समझता है। अतः यह संसरण, यह प्रवृत्ति-निवृति का चक्र निरर्थक नहीं है।

५, **चिदानन्दघन**—जो चित् और आनन्द का समूह है। इस शास्त्र में सच्चिदानन्द का बहुत कम प्रयोग मिलता है। चिदानन्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है। कारण यह है कि अभिव्यक्ति को लेकर ही कुछ कह सुन सकते हैं। चित् और आनन्द यही सत् की मुख्य अभिव्यक्ति है। अतएव अभिव्यक्ति की दृष्टि से चिदानन्द का ही प्रयोग हुआ है। दूसरे सत् का स्वरूप ही चित् और आनन्द है। अतः उसे अलग से कहने की आवश्यकता नहीं।

६. 'स्वातम' शब्द के दो भाव हैं (१) अपना स्वरूप (२) स्वकीय आत्मा। पहले भाव की दृष्टि से 'चिदानन्दघनस्वातम-परमार्थावभासिने' का अर्थ है जो परमार्थ को अवभासित करता रहता है जिसका स्वातम या स्वरूप चिदानन्दघन है। दूसरे भाव की दृष्टि से 'चिदानन्दघन स्वातमपरमार्थावभासिने' का अर्थ है' जो स्वकीय आत्मा (स्वातम) को जो कि परमार्थ है और चिदानन्दघन है अवभासित करता रहता है। इस शास्त्र की दृष्टि से दूसरा अर्थ अधिक अच्छा है।

७. **परमार्थ**—परम—सर्वोत्तम। अर्थ शब्द के दो अर्थ हैं (१) वस्तु और (२ इष्ट या लक्ष्य। परमार्थ से यह ध्वनित होता है कि जो परम सत्ता या वस्तु है वही जीवन का परम लक्ष्य या इष्ट भी है।

८. **'शाङ्कर'**—शं करोति इति शंकरः जो कल्याण करता है वह 'शंकर' है। यह शिव का दूसरा नाम है। 'शाङ्करोपनिषद्' का अर्थ है शिव सम्बन्धी रहस्यशास्त्र अर्थात् शैवदर्शन।

९. **उपनिषद्**—उप+नि+सत्—इसका शाब्दिक अर्थ है (आचार्य के) पास अच्छी तरह बैठना। अर्थात् इस प्रकार बैठकर रहस्य-ज्ञान की प्राप्ति।

शांकरोपनिषद् का अर्थ है शंकर सम्वन्धी रहस्यज्ञान। श्री शंकराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ आत्मज्ञान द्वारा अविद्या का नाश भी किया है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ रहस्य या रहस्यज्ञान ही है।

१०. संसार—संसरति इति संसारः। जो स्थिर न हो, जो सदा सरकता रहे, चलता रहे उसे संसार कहते हैं। संसार का अर्थ जीव का एक योनि या अवस्था से दूसरी योनि या अवस्था में संसरण या भ्रमण करते रहना भी है। यहाँ संसार शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संसार जगत् रूप में विष नहीं है, जीव के भ्रमण रूप में ही विष है।

विष शब्द जुहोत्यादिगण के 'विष्' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है व्याप्त होना। शरीर में व्याप्त होकर घातक होने के कारण इसे 'विष' कहते हैं।

क्र्यादिगण में भी एक विष् धातु है जिसका अर्थ है विप्रयोग या वियोग करना। संसार इसलिए भी विष है कि वह हमको शिव से वियुक्त कर देता है।

११. तर्कशास्त्र—हेतुपूर्ण युक्ति और विवेचना के नियम को बतलाने वाला शास्त्र।

१२. समावेश—यह सम्+आ+विश् से बना है जिसका अर्थ है अच्छे प्रकार से प्रवेश। पारमेश्वर समावेश का अर्थ है परमेश्वर के साथ जीव का एकात्मभाव जिसमें वह अपने को शिव से अभिन्न समझता है। समावेश का अर्थ शिव का जीव में प्रवेश कर उस पर छा जाना भी होता है। चाहे हम शिव का जीव में प्रवेश या जीव का शिव में प्रवेश जो भी अर्थ लें दोनों का परिणाम एक ही है जीव का शिव से एकात्मभाव।

१३. शक्तिपात—शक्ति शिव का क्रियात्मक बल है। अतः वह शिव से अभिन्न है। शक्ति से ही शिव पंचकृत्य करता है। शक्तिपात का अर्थ है शक्ति का किसी पर गिरना अर्थात् शिव का अनुग्रह, शिष्य या साधक में गुरु द्वारा या शिव द्वारा आत्मिक बल का उन्मेष।

१४. सूत्र—सूत, तागा, जो सूत के समान कुछ विचारों को एक साथ ग्रथित किये रहता है। थोड़े से अक्षरों में कहा हुआ वचन जो वहुत अर्थ व्यक्त करे 'सूत्र' कहलाता है। यहाँ सूत्र एक पारिभाषिक शब्द है। सूत्र का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—'स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः' अर्थात् सूत्र के जानकार (उसको) सूत्र मानते हैं जिसमें

कम अक्षर हों, जिसमें (अर्थ के विषय में) कोई सन्देह न हो, जो सारपूर्ण हो, जो सर्वत्र लागू हो, जिसमें व्यर्थ के शब्द न हों और जो निर्दोष हो।

१५. स्वतंत्रा—यह चिति का विशेषण है। 'स्वतंत्रा' का अर्थ है जो स्व अर्थात् अपने ही ऊपर अवलम्बित है, किसी दूसरे से सहायता नहीं लेती, जो सब बन्धनों से मुक्त है और जो सब कुछ सम्पादन करने में समर्थ है।

१६. चिति—समष्टि चित् को कहते हैं। यह परासंवित् अर्थात् सर्वोत्कष्ट संवित् या शिव की शक्ति है। चिति समष्टि संवित् है। चित्त व्यष्टि संवित् है। चित् शब्द प्रायः शिव के लिए प्रयुक्त होता है और चिति उसकी शक्ति के लिए।

१७. सिद्धि—'सिद्धि'शब्द के कई अर्थ हैं जो कि इस सूत्र के भाष्य में बतलाये गए हैं। मुख्यतः इसका अर्थ है सम्पादन अर्थात् काम का पूरा होना। विश्व की सिद्धि में विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार सभी अन्तर्भूत हैं।

१८. सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य—सदाशिव से लेकर पृथिवी तक। इस दर्शन के अनुसार ३६ तत्त्व हैं। ये दो भागों में बाँटे जा सकते हैं (१) शुद्ध अध्वा और (२) अशुद्ध अध्वा।

अध्वा का अर्थ है रास्ता, मार्ग, पद्धति, प्रकार, क्रम, काल। शिव की अभिव्यक्ति का मार्ग या पद्धति जो माया से ऊपर है, जहाँ तक वेदक और वेद्य में भेद नहीं है वहाँ तक शुद्ध अध्वा कहलाता है। जहाँ से भेद प्रारम्भ होता है वहाँ से लेकर भूमि तक अशुद्ध अध्वा कहलाता है।

शिव से लेकर अवरोही क्रम में ३६ तत्त्व इस प्रकार हैं।

१. **शिवः**—यह सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। यह समष्टि चित् है। चित् ही इसका स्वरूप है।

२. **शक्तिः**—शिव का अभिन्न चिन्मय सामर्थ्य या स्वातंत्र्य। इसमें आनन्द का प्राधान्य है।

ये दोनों तत्त्व सभी अभिव्यक्ति के मूल हैं और एक प्रकार से अभिव्यक्ति से परे हैं।

शुद्ध अध्वा अथवा अतिजागतिक अभिव्यक्ति

३. **सदाशिवः**—इस तत्त्व में अहन्ता और इच्छा का प्राधान्य रहता है। इदन्ता या विश्व अभी अस्फुट अवस्था में है। इसका दूसरा नाम सादाख्य तत्त्व भी है। इसका परामर्श है 'अहमिदम्' मैं यह (विश्व) हूं। इस अवस्था में 'मैं' और 'विश्व' में कोई भेद नहीं है। अभी विश्व स्फुट हुआ ही

नहीं है। सादाख्य का अर्थ है 'सत् आख्या यतः'—वह अवस्था जहाँ सबसे पहले सत्ता का भान होता है।

४. **ईश्वरः**—इस तत्त्व में अहन्ता और इदन्ता, अहं का ज्ञान और विश्व का आभास दोनों समान रूप से एक साथ ही स्फुट रहता है। इसमें ज्ञान का प्राधान्य है। इसी से प्रमेय, या ज्ञेय स्फुट रहता है। इसका परामर्श है 'इदमहम्'—यह (विश्व) मैं हूं। विश्व प्रमेय या वेद्य रूप में रहता है। किन्तु 'अहम्' या 'मैं' से उसका अभेद रहता है।

५. **विद्या या शुद्धविद्या या सद्विद्याः**—इसमें क्रिया प्राधान्य है। इसका परामर्श है 'अहमिदं च अथवा इदं च अहं च'। अर्थात् मैं, मैं हूँ और यह (विश्व) भी हूं। यह भेदाभेद की अवस्था है अर्थात् भेद होने पर भी उसमें अभेद का बोध बना रहता है। यद्यपि विश्व का वेद्य या ज्ञेय रूप में भान होता है, तथापि यह ज्ञान बना रहता है कि यह विश्व मैं ही हूँ। यह मेरा ही रूप है, मुझ से भिन्न नहीं है। इसी से इसे शुद्ध विद्या कहते हैं, क्योंकि अभी विश्व का अपने से भेद नहीं है।

शिव से शुद्धविद्या तक पाँच तत्त्व शुद्ध अध्वा कहलाते हैं। क्योंकि अभी तक वेदक और वेद्य, प्रमाता और प्रमेय या ज्ञाता और ज्ञेय एकात्मक हैं अर्थात् अभी तक वेद्य या ज्ञेय. अपना ही रूप है और अभी तक पूर्णरूपेण स्वरूपगोपन नहीं हुआ है।

ये पाँचों तत्त्व चित् की सर्वगत अवस्था को व्यक्त करते हैं। यहाँ तक वेद्य वेदक से भिन्न नहीं है; वेदक का वेद्य से अभेद बना हुआ है।

अशुद्ध अध्वा अथवा जागतिक अभिव्यक्ति

६. **माया**—विश्व निर्माणकारी या 'परिमितिकारी तत्त्व'।
कभी-कभी यह तत्त्व कंचुकों में सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि इसी से कंचुकों का प्रादुर्भाव होता है। माया स्वरूप का गोपन कर देती है और भेद, नानात्व की जननी है।

माया के पंच कंचुक (खोली)

७. **कला**—कर्तृत्व या साधकता का संकोच अथवा परिच्छिन्नत्व।

८. **विद्या**—ज्ञातृत्व का संकोच अथवा ज्ञान का परिच्छिन्नत्व।

९. **राग**—तृप्ति का संकोच अथवा परिच्छिन्नत्व जिसके कारण सदा भिन्न-भिन्न विषयों की चाह बनी रहती है।

१०. **काल**—नित्यता का संकोच जिसके कारण भूत (अतीत), भवत् (वर्तमान) और भविष्यत् का अलग-अलग बोध होता रहता है और जन्म-मरण होता रहता है।

११. **नियति**--स्वातन्त्र्य का संकोच जिसके कारण परिच्छिन्न देश कारण इत्यादि का बोध होता है। नियति ही जीव को कृत्य और अकृत्य में अवश बनाकर उसका नियम करती रहती है।

१२. **पुरुष**—जब शिव अपनी माया द्वारा आत्मगोपन करके परिमित वा परिच्छिन्न प्रमाता बन जाता है, तब उसको पुरुष कहते हैं। प्रमाता वा पुरुष हो जाने पर शिव का सर्वकर्तृत्व कला में अर्थात् किंचित्-कर्तृत्व में परिणत हो जाता है, उसका सर्वज्ञत्व विद्या (परिच्छिन्न ज्ञान) में परिणत हो जाता है; उसका पूर्णत्व राग (भिन्न-भिन्न विषय के लिए अभिलाषों) में परिणत हो जाता है; उसका नित्यत्व काल (खण्ड-खण्ड समय) में परिणत हो जाता है; उसका व्यापकत्व नियति (परिच्छिन्न देश, कारण इत्यादि) में परिणत हो जाता है। कला से नियति तक माया के पाँच कंचुक कहलाते हैं जो कि वे अवगुण्ठन या परदे हैं जिनसे शिव अपने को ढक लेता है।

१३. **प्रकृतिः**—बुद्धि से लेकर पृथिवी तक के प्रादुर्भाव की मूल योनि, प्रमेय का मूल अधिष्ठान। इस दर्शन में प्रत्येक पुरुष के लिए भिन्न भिन्न प्रकृति है।

१४. **बुद्धि**—निश्चयात्मक ज्ञान की शक्ति।

१५. **अहंकार**—अहं + कार अहम् (मैं) भाव को 'कार' करनेवाला या प्रकट करनेवाला तत्त्व।

१६. मनस् (मन)--संकल्प विकल्प चित्त।

१७-२१. **पंच ज्ञानेन्द्रिय**— पाँच प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेवाली इन्द्रियाँ (श्र ण, स्पर्श, दर्शन, रसन, गन्ध)।

२२-२६. पंच कर्मेन्द्रियाँ (वचन, ग्रहण, गमन, उत्सर्ग और जनन)।

२७-३१. पंच तन्मात्र जो कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की मूल योनि हैं—

१—शब्द तन्मात्र, २--स्पर्शतन्मात्र, ३—रूपतन्मात्र। ४—रस-तन्मात्र, और ५—गन्धतन्मात्र।

३२-३६. **पंच महाभूत**—आकाश, वायु, अग्नि, आपः (जल) और भूमि या पृथ्वी।

१९. **परप्रमाता**—सर्वोच्च ज्ञाता। प्रमाता का अर्थ है प्र + माता = प्रकृष्ट रूप से—बहुत ही अच्छी तरह माप लेनेवाला अर्थात् जाननेवाला। परमशिव को पर प्रमाता कहते हैं।

२०. **पराशक्ति**—सर्वोच्च शक्ति, मुख्यशक्ति। इसको परा (सर्वोच्च) कहते हैं क्योंकि इसकी सहकारी या गौणशक्तियाँ जगत् में व्याप्त होकर भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न करती हैं। शक्ति का अर्थ है शिव की चेतना या शिव की चेतना का स्पन्द जो कि शिव से अभिन्न है। शिव की ही अन्तःस्थित अर्थतत्त्व को बाहर प्रकट करने की उन्मुखता और क्रियाशील अनुग्रह को शक्ति कहते हैं।

२१. **अनुत्तर**—जिससे परे या बढ़कर और कुछ नही है; परमशिव।

२२. **विमर्श**—वि + मृश्। मृश् धातु का अर्थ है स्पर्श करना। मनसे स्पर्श करना। यह इस दर्शन का एक उच्चकोटि का पारिभाषिक शब्द है। परमशिव प्रकाशमात्र नहीं है, उसे अपने चैतन्य की भी चेतना है। विमर्श परम सत् की शुद्ध आत्मचेतनता है। इसी विमर्श या आत्मचेतनता के द्वारा ही सृष्टि, स्थिति और संहार होता रहता है। इस विमर्श की तीन अवस्थाएँ होती हैं। बाह्य रूप में अर्थात् विश्व में प्रकट होना (सृष्टि), इस प्रथन या प्रकटन को कायम रखना (स्थिति) और पुनः अपने आप में वापिस आना (संहार)। इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा सहज अहम् (मैं या आत्मा) का विस्फुरण होता रहता है। द्रष्टव्य—"इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा। प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम-विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशनेन, विश्वसंहरणेन अकृत्रिमाहमिति विस्फुरणम्" (पराप्रवेशिका पृ० १–२ कश्मीरसंस्कृत ग्रंथ माला।) परमशिव में समस्त विश्व उसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार मयूर (मोर) के अण्डे के रस में चित्र-विचित्र पिच्छकलाप (परों का समूह) विद्यमान रहता है। मयूराण्डरसन्यायेन)। विमर्श आत्मचेतना का ही उपन्यास (बाहर प्रस्तुत करना) है, जिससे आत्मचेतना की बाह्याभिव्यक्ति होती है।

२३. **शिवभट्टारक**—भट्टारक, भट्टार और भट्ट शब्द समानार्थक हैं। यह भट्ट शब्द भट् धातु में तन् प्रत्यय लगाकर बना है। भट् धातु भ्वादि-गणीय है। इसका अर्थ है पोषण करना (भट्=भृतौ)। भट्ट का अर्थ है पोषणकरनेवाला, भर्ता, स्वामी। इसका प्रयोग राजाओं ब्राह्मणों और विद्वानों के लिए आदरप्रदर्शनार्थ होता है।

भट्टार—(भट्टं=स्वामित्वं ऋच्छति इति, ऋ–अण्)। भट्टार वह है जो स्वामित्व को प्राप्त हो अर्थात् जो स्वामी हो। भट्टारक में भट्टार के ही अर्थ में 'क' प्रत्यय लगा है। भट्ट, भट्टार और भट्टारक तीनों एक

ही अर्थ के द्योतक हैं। भट्टारक का अर्थ है पूज्यस्वामी। यह शिव के साथ आदरप्रदर्शन के लिए लगाया गया है।

२४. **नित्योदित**—उदित—उत्+इ+क्त से बना हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'ऊपर गया हुआ', 'उठा हुआ', 'उगा हुआ'। नित्योदित का अर्थ है जिसका नित्य उदय है। संसार में जिसका उदय होता है उसका अस्त भी होता है। इस प्रकार की उदित वस्तु को 'शान्तोदित' कहते हैं। किन्तु जिसका सदा उदय है कभी अस्त होता ही नहीं, वह 'नित्योदित' है। चिति चित् शक्ति है, वह मूल चेतना है, जिसका कभी अस्त नहीं होता। चिति के लिए केवल नित्य न कहकर नित्योदित (नित्य उगी हुई) कहने का तात्पर्य यह भी है कि वह सदा क्रियाशीला है, उसमें सदा स्पन्द वर्तमान है।

२५. **प्रमातृ**—प्रमाता-विषयों का (चित्त द्वारा) माप कर लेनेवाला ज्ञाता।

२६. **प्रमाण**—माप अथवा ज्ञान और प्रमाण या ज्ञान का करण या साधन।

२७. **प्रमेय**—जो (चित्त द्वारा) माप लिया जाय; ज्ञेय; विषय। विश्वको प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-मय कहने का भाव यही है कि समस्त विश्व इन्हीं तीनों का पुञ्ज है। इसमें जो, विषय हैं वे प्रमेय या ज्ञेय हैं, इनको जाननेवाले प्रमाता या जीव हैं और जाननेवालों का प्रमाण (ज्ञान) और उसका साधन है। इनके अतिरिक्त विश्व और कुछ नहीं है।

२८. **वैन्दवीकला**—पर प्रमाता। वेत्तीति 'विन्दुः'। विन्दुः विद् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'जानना'। बिन्दु अथवा विन्दु का अर्थ है प्रमाता, ज्ञाता, वेदक। जो परम प्रमाता या संविद है उसे विन्दु या बिन्दु कहते हैं। 'बिन्दोरियमिति बैन्दवी'। 'वैन्दवी' का अर्थ हुआ विन्दुसम्बन्धी। 'कला' का अर्थ यहाँ शक्ति है। 'वैन्दवी कला' का अर्थ हुआ 'आत्मसंवित्ति' (आत्मा को जानने) की शक्ति'। यहाँ पर इस इसका अर्थ है आत्मा की वह शक्ति जिसमें वह सदा अपने को वेदक के ही रूप में जानता है। यहाँ पर सिर की उपमा आत्मा वा प्रमाता से दी गई है, और पैर की उपमा प्रमाण से। जैसे अपने पैर से कोई अपने सिर की छाया को नहीं लांघ सकता, वैसे ही प्रमाण प्रमाता को मापने या जानने में असमर्थ है। स्वयं प्रमाण का अस्तित्व और सिद्धि प्रमाता के द्वारा है, तो प्रमाण बेचारा प्रमाता के अस्तित्व को क्या सिद्ध करेगा। जिस प्रकार सिर की छाया पैर द्वारा नहीं

पकड़ में आ सकती, उसी प्रकार प्रमाता प्रमाण की पकड़ में नहीं आ सकता।

२६. **सामरस्य**—समरस अर्थात् एकरस का भाव। चित्शक्ति ही स्वतंत्ररूप से अर्थात् बिना किसी अन्य की अपेक्षा किये हुए परप्रमाता परम शिव से विश्व की सृष्टि द्वारा पृथक्त्व जैसी अवस्था निष्पन्न करती हैं, उस अवस्था को कुछ काल तक स्थित रखती है और फिर संहार कर लेती है अर्थात् विश्व को समेट कर उसी अद्वय परमशिव में समरस अर्थात् एकरूप कर देती है।

३०. **स्वतन्त्र**—चिति को स्वतंत्र इसलिए कहा है क्योंकि चाहे सृष्टि हो, चाहे स्थिति, चाहे संहार—किसी के लिए भी वह दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। सब कुछ करने में वह स्वयं समर्थ है।

३१. **भोगमोक्षरूपी विश्वसिद्धि**—एक ऊँची दृष्टि से विश्वसिद्धि का अर्थ भोग और मोक्ष की सिद्धि है। जब चित्शक्ति के स्वातंत्र्य की पहचान हो जाती है तो वह भोग (वास्तविक स्वात्मचमत्कार रूपी भोग) और मोक्ष दोनों की जननी हो जाती है।

३२. **प्रमाणोपारोहक्रमेण**—प्रमाण के आरोहक्रम से। यह आरोहक्रम इस प्रकार है—प्रमेय को साधक प्रमाणरूप में, ज्ञेय को ज्ञान रूप में जानने लगता है, यह पहली सीढ़ी है, फिर प्रमाण को प्रमाता के रूप में, ज्ञान को ज्ञाता के रूप में जानने लगता है। प्रमाण की विश्रान्ति प्रमाता में होती है। यही विमर्शमय प्रमाता के साथ तादात्म्य है।

३३. ब्रह्मवाद से तात्पर्य है शांकर वेदान्त जिसमें चित् कर्तृत्व से हीन है।

३४. कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई नगर जो दर्पण में दिखलाई देता है वस्तुतः दर्पण से अभिन्न है किन्तु भिन्न जैसा दिखलाई देता है वैसे ही विश्व भी चित् से वस्तुतः अभिन्न है, किन्तु भिन्न जैसा प्रतीत होता है।

३५. **सदाशिवतत्त्व**—यह एक प्रकार से प्रथम अभिव्यक्ति है। शिव शक्ति से सदाशिव अभिव्यक्त होता है जिसका परामर्श होता है 'अह-मिदम्'—मैं यह हूँ। इदम् अर्थात् यह अखिल विश्व का निर्देश करता है। अहं अर्थात् मैं विश्व प्रमाता सदाशिव का निर्देश करता है। यह सर्वव्यापी अहं (मैं) है। जब परं की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होती है तो उसका सर्वप्रथम परामर्श होता है मैं यह हूँ (अहमिदम्)

यह अर्थात् अखिल विश्व तो पहले से ही अव्यक्त रूप से परं (परमेश्वर) की चेतना में निहित रहता है। किन्तु जब परमेश्वर अपने को यह के रूप में प्रकट करता है, तो यही इस स्थूलरूप से व्यक्त होने वाले विश्व की प्रथम झांकी है। यह वह अवस्था है जिसमें यह (इदम्) रूप अस्फुट है और मैं (अहम्) रूप स्फुट है। इस अवस्था में विश्व अहन्ता (मैं) से आच्छादित है, और उसका इदन्ता (यह) रूप अस्फुट है, जिसमें विश्व का सदाशिव से अभिन्न अर्थात् पर भी है और एक प्रकार से भिन्न अर्थात् अपर भी है। इसी से विश्व को परापर (पर+अपर) कहा है 'मैं यह हूँ' इस परामर्श में 'होना' (सत्) स्पष्ट है। यह सदाशिव का परामर्श है। इसलिए सदाशिवतत्त्व को सादाख्य (सत्-होना) भी कहते हैं। इस तत्त्व में इच्छा प्रधान है।

इस दर्शन में प्रमाताओं का जो उच्चावचत्व [ऊँचा-नीचा स्तर] है उसे अब बतलाते हैं। जिसने सदाशिवतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है वह प्रमाता मंत्रमहेश्वर कहलाता है। वह अखिल विश्व से तादात्म्य अनुभव करता है।

३६. **ईश्वरतत्त्व**—अभिव्यक्ति का यह दूसरा स्तर है। इसमें 'मैं' [अहन्ता] और 'यह' का परामर्श एक ही दर्जे का है अर्थात् दोनों का परामर्श समान रूप से स्फुट है। विश्व जो कि 'पर' [परमशिव] की चेतना में अव्यक्त रूप से निहित है, ईश्वर तत्त्व केस तर पर यह [इदं] के रूप में सदाशिवतत्त्व की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है। ईश्वरतत्त्व में ज्ञान प्रधान है। जिन्होंने ईश्वरतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है वे इस तत्त्व में अवस्थित होते हैं। वे मंत्रेश्वर कहलाते हैं। ईश्वरतत्त्व का परामर्श है 'इदमहम्' [यह मैं हूँ] इसमें 'यह' अर्थात् विश्व अस्फुट रूप में नहीं रहता परन्तु उतना ही स्फुट हो जाता है जितना कि 'मैं'। इस स्तर में 'मैं' और 'यह' की चेतना समान रूप से स्फुट रह ी है। फिर भी 'यह' अथवा विश्व का 'मैं' से भिन्न बोध नहीं होता। सदाशिव और ईश्वर दोनों तत्त्वों में ग्राहक और ग्राह्य, मैं और यह में भेद नहीं है। केवल सदाशिव तत्त्व में अहं अथवा मैं अधिक स्फुट है और इदं अथवा विश्व कम स्फुट है और ईश्वर तत्त्व में मैं और यह [विश्व] दोनों समानरूप से स्फुट हैं। इस स्तर के प्रमाता 'मन्त्रेश्वर' के अधिष्ठाता ईश्वर हैं।

३७. विद्या या शुद्धविद्यातत्त्व—यह वह तत्त्व है जिसमें अहं [मैं] और इदं [यह] दोनों का ज्ञान भिन्न होता है। यहाँ से भेद प्रारम्भ होता है, किन्तु भेद के भीतर अभेद वर्तमान रहता है। इस तत्त्व में क्रिया प्रधान रहती है। इस तत्व के प्रमाता 'मंत्र' कहलाते हैं जो कि भेद देखते हैं, किन्तु अभेद में वह भेद भासित होता है। इन प्रमाताओं का अधिष्ठाता अनन्त भट्टारक है। इस तत्त्व के प्रमाता का परामर्श होता है 'इदं च अहं च', यह [विश्व] भी है और मैं भी हूँ, अर्थात् विश्व मुझसे भिन्न है, किन्तु सर्वथा भिन्न नहीं है। 'यह' या विश्व 'मैं' से अलग प्रतीत होते हुए भी 'यह' अथवा विश्व 'मैं' का ही एक प्रारूप है। 'यह' 'मैं' से सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी से इस स्थिति का ज्ञान 'शुद्ध-विद्या' है।

३८. विज्ञानाकल—शुद्ध विद्या से नीचे और माया से ऊपर विज्ञानाकल की स्थिति है। विज्ञान+अकल अर्थात् विज्ञान [बोध] है, किन्तु कर्तृत्व नहीं है। पूर्व अवस्था में परिचित सकल और प्रलयाकल ही उसके प्रमेयक्षेत्र हैं।

विज्ञानाकल उनसे अपना अभेद अनुभव करता है। इसमें से मायीय और कार्म मल चले जाते हैं, केवल आणव मल रह जाता है।

३९. शून्यप्रमाता अथवा प्रलयाकल अथवा प्रलयकेवली—इसको स्पष्टरूप से न अहं [मैं] का बोध होता है, न इदं [जगत्] का। जिस प्रकार सुषुप्ति में शून्य जैसा भान होता है उसी प्रकार इसे शून्य का भान होता है जो कि प्रायः कुछ नहीं के समान है। प्रलयाकल वह प्रमाता है जो संहार और सृष्टि के बीच में प्रकृति से तादात्म्य रखता है। शून्यावस्था में पहुँचे हुए योगी भी प्रलयाकल प्रमाता ही हैं।

प्रलयकाल में कला इत्यादि के विलीन हो जाने पर, नई सृष्टि के आरम्भ होने तक प्रलयाकल मायातत्त्व के भीतर विद्यमान रहता है। इसमें आणव और मायीय मल वर्तमान रहते हैं। कार्म मल चला जाता है।

४०. सकल—ये वे देव और जीव हैं जिन्हें सच्चा आत्मज्ञान नहीं होता और जिनकी चेतना मुख्यतः भेद की होती है। वे आणव, मायीय और कार्म तीनों मलों से आच्छन्न होते हैं।

४१—केवल प्रकाशरूप कहने का तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में विमर्श अस्फुट है, प्रकाश ही स्फुट है।

तीसरे सूत्र में प्रतिपादित विषय को हम एक सारणी में इस प्रकार रख सकते हैं :—

तत्त्व	अधिष्ठाता	प्रमाता	तदनुरूप प्रमेय
१. शिव तत्त्व	शि भट्टारक	शिवप्रमाता	सब कुछ प्रकाशमय या शिवरूप ।
२. सदाशिव तत्त्व । इसमें इच्छा प्रधान है ।	सदाशिवभट्टारक	मंत्रमहेश्वर जिसे अहं या शिव का भी स्फुट ज्ञान है किन्तु इदं या विश्व का भी अस्फुट रूप से ज्ञान है । इस अवस्था में विश्व अपना ही एक रूप या भाव है ।	इदन्ता या विश्व का अस्फुट ज्ञान जो आत्म बोध से भिन्न नहीं है ।
३. ईश्वर तत्त्व । इसमें ज्ञान— प्रधान है ।	ईश्वरभट्टारक	मंत्रेश्वर जिसको ईश्वर के समान अहं [मैं] और इदं [यह] दोनों का समान रूप से ज्ञान है किन्तु इदं या विश्व अहं से बाह्य या पृथक् नहीं है ।	अहन्ता और इदन्ता दोनों का समान रूप से स्फुट ज्ञान । अभी विश्व आत्मा से सर्वथा बाह्य या पृथक् नहीं है ।
४. शुद्धविद्या तत्त्व या सद्विद्या तत्त्व । इसमें क्रिया प्रधान है ।	अनन्तभट्टारक	मंत्र, जिसमें अहं और इदं दोनों भिन्न हो गये हैं किन्तु अभी अहं-संविति से इदं पूर्णतया बाह्य और पृथक् नहीं हुआ है ।	प्रत्येक वस्तु का भेदज्ञान होते हुए भी सबका आत्मा से सम्बन्ध का ज्ञान, आत्मा का ही रूप जान पड़ना ।
५. महामायातत्त्व [माया से ऊपर]	×	विज्ञानाकल [इसमें केवल आणव मल है । मायीय और कार्म मल चले गये हैं । बोध है, किन्तु कर्तृत्व नहीं है] ।	पूर्व परिचित प्रलयाकलों और सकलों का ज्ञान ।
६. मायातत्त्व	×	प्रलयाकल या प्रलयकेवली अथवा शून्यप्रमाता । इसमें से कार्ममल चला गया है किन्तु आणव और मायीय मल है ।	शून्य
७. शेषतत्त्व पृथिवी तक	×	सकल-देवों से लेकर वृक्षों और खनिज पदार्थों तक । इनमें आणव मायीय और कार्म तीनों मल वर्तमान हैं ।	प्रत्येक वस्तु का एक दूसरे से भिन्न और अपने से भी भिन्न होने का ज्ञान ।

विज्ञानाकल से सकल तक कोई अधिष्ठाता नहीं है, क्योंकि विज्ञानाकल से महामाया का कार्य प्रारम्भ हो जाता है, और महामाया से अज्ञान प्रारम्भ हो जाता है।

४२. **अनाश्रितशिव** - जब चिदैक्य (जिसमें चित्त और विश्व एक ही है) का अपने स्वातंत्र्य से बोध हट जाता है तो उस अवस्था का नाम अनाश्रितशिव है। यह शक्तितत्त्व और सदाशिव तत्त्व के बीच की अवस्था है। यह ध्यान रहे कि यह अवस्था मात्र है, तत्त्व नहीं है। यह वह अवस्था है जिसमें शक्ति आत्मा से विश्व का निषेध कर देती है और इस प्रकार आत्मस्वरूप का आवरण हो जाता है जिसके कारण आत्मस्वरूप की अख्याति अर्थात् अज्ञान हो जाता है। यह अख्याति शिव अपने स्वातंत्र्य से ही अपने से उत्पन्न कर लेता है। उसकी शक्ति उसका स्वातंत्र्य है। शक्ति विश्व का अहं (शिव) से निषेध कर देती है। इसलिए शक्ति को **"स्वरूपरूपापोहनात्माख्यातिमयी निषेधव्यापाररूपा"** (परमार्थसार० पृ० १० में) कहा है। पूर्ण अहं में अहं और विश्व एक है। विश्व का अहं से पृथक् हो जाना अहं का अपूर्ण हो जाना है। विश्व का पुनः अहं से एकीभाव कर लेना अपूर्ण अहं को पूर्ण बना लेना है। अहं का अपूर्ण हो जाना संसार है। अहं का पुनः पूर्ण हो जाना मुक्ति है।

४३. शून्य से भी अधिक शून्य अर्थात् अत्यन्त शून्य। विश्व के निषेध हो जाने के कारण, प्रमेय के सर्वथा अभाव के कारण इस अवस्था को शून्यातिशून्य कहा है।

४४. **त्रिशिरोमते**—त्रिशिरोमत ग्रन्थ में तीन शिर वाले भैरव के रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। भैरव के तीन शिर शिव की तीन शक्तियों परा, परापरा और अपरा—के प्रतीक हैं। परा वह स्थिति है जिसमें शिव और शक्ति अभिन्न है। परापरा वह स्थिति है जिसमें भेद में अभेद है। अपरा वह स्थिति है जिसमें ग्राहक और ग्राह्य में पूर्ण भेद है।

४५. सर्वदेवमयः कायः। विश्व एक ऐसा शरीर माना गया है जो कि सभी देवों से बना है। सभी प्रमाता और प्रमेय देवरूप माने गये हैं। यही प्रमाता—प्रमेय रूप विश्व प्रभु का शरीर है। एक दूसरा पाठ है सर्वतत्त्वमयः कायः अर्थात् विश्वरूपी शरीर सभी तत्त्वों का बना हुआ है।

४६. **प्रिये**—आगमशास्त्र बहुत कुछ शिव और पार्वती के संवाद रूप में है जिसमें शिव पार्वती को आगम के सिद्धान्तों को बतलाते हैं। पार्वती को यहाँ 'प्रिये' कहकर सम्बोधित किया है।

४७. **भैरवः**—भैरव का अर्थ है भयानक। यह शिव का वह भयानक रूप है जो हमारी दुष्प्रवृत्तियों का समूल उच्छेदन कर देता है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है 'भैरव' भ, र, व इन तीन अक्षरों से बना है। भ—भरण अर्थात् विश्व की स्थिति का द्योतक है। र—रवण अर्थात् विश्व के संहार का द्योतक है। व—वमन अर्थात् विश्व की सृष्टि का द्योतक है। इस प्रकार भैरव सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों का द्योतक है। इसको तीन शिर वाला इसलिए कहा है क्योंकि यह अपनी तीन शक्तियां परा, परापरा और अपरा। (दे० टि० ४४) का प्रतीक है, अथवा नर, शक्ति, शिव इन तीनों का प्रतीक है।

४८. क्षेमराज ने पहले यह श्लोक कहाँ लिखा है इसका पता नहीं चलता। इस श्लोक का भाव एक विरोधाभास के रूप में रक्खा गया है। अख्याति (अज्ञान) का क्या भाव है ? क्या यह प्रकाश में आती है या नहीं (अर्थात् अनुभूत होती हैं या नहीं ?) यदि अख्याति वह है जो 'न ख्याति' अर्थात् प्रकाश में नहीं आती तब तो अख्याति कुछ है ही नहीं। केवल ख्याति (ज्ञान चित्) बच रही। यदि अख्याति भी प्रकाशित होती है अर्थात् अख्याति भी ख्याति है तब तो और भी ख्याति ही सब कुछ है, अख्याति कुछ नहीं है। ख्याति (चित्) का किसी भी प्रकार से निरास नहीं किया जा सकता।

४९. यह उद्धरण स्पन्दकारिका के द्वितीय निष्पन्द के तृतीय और चतुर्थ श्लोक से लिया गया है।

५०. विकल्प का अर्थ है विशेष या विविध कल्पना, एक विषय या विचार को औरों से पृथक् रूप में देखना या जानना, पृथक् ज्ञान, भिन्न ज्ञान। विकल्पन या विकल्प की क्रिया का अर्थ है—"**विशेषेण विविधेन वा कल्पनम्**" अर्थात् यह समझना कि यह औरों से विशिष्ट हैं, पृथक् है, भिन्न है। विकल्पन चित्त की वह क्रिया है जिसके द्वारा 'एक' 'दूसरे' से विशिष्ट रूप में देखा या समझा जाता है। व्यष्टिचित्त का यही स्वभाव है कि वह विकल्प करता है, 'एक' को 'दूसरे' से विशिष्ट करता है; भिन्न रूप में देखता है।

योगराज ने अभिनवगुप्त के परमार्थसार के ११ वें श्लोक में आये हुए विकल्प शब्द पर जो विवृति लिखी है वह बहुत ही उद्बोधक है। वह इस प्रकार है—"विकल्पो हि अन्यापोहलक्षणो द्वयं घटाघटरूपं आक्षिपन् अघटात् व्यवच्छिन्नं घटं निश्चिनोति" अर्थात् विकल्प का यह लक्षण है कि वह औरों को हटाकर एक को पकड़ता है। यदि घट (घडा) को जानना है तो घट और अघट को सामने रखते हुए अघट को हटाकर, घट को अघट से पृथक् कर उसका निश्चित ज्ञान करना विकल्प है। जीव का चित्त विकल्पमय है, शिव तो निर्विकल्प है। प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि चित्त का तो स्वभाव विकल्प है और शिव निर्विकल्प है। तो फिर जब तक चित्त है तब तक जीव और शिव अभिन्न कैसे माने जा सकते हैं ?

पतञ्जलि के योगसूत्र (समाधिपाद के नवें सूत्र) में विकल्प शब्द भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहां विकल्प का अर्थ है वह कल्पना जो केवल एक मानसिक व्यापार है, शब्द मात्र है किन्तु जिसका कोई वास्तविक आधार नहीं है।

५१ चित्त का अर्थ है जीव की, व्यक्ति की चेतना।

५२. **विद्या प्रमाता**—विद्यातत्त्व में स्थित प्रमाता अर्थात् मंत्र।

५३. दे० टिप्पणी ३४, ३५, ४०।

५४. **शुद्धाध्व**—शिव, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या शुद्धाध्व कहलाते हैं। मंत्र, महेश्वर, मंत्र महेश्वर इत्यादि शुद्धाध्व प्रमाता कहलाते हैं।

५५. दे० टि० ३८। शून्यादि में 'आदि' से सकल को समझना चाहिए, अर्थात् शून्यप्रमाता और सकल।

५६. इसका भाव यह है कि जो शिवदशा में ज्ञान है वह पशुदशा में सत्त्व के रूप में प्रकट होता है, जो शिवदशा में क्रिया है वह पशु या जीव-दशा में रजस् के रू में प्रकट होती है, जो शिवदशा में माया है वह पशुदशा में तमस् के रूप में प्रकट होती है।

५७. जिससे सारे विश्व का उद्भव होता है, जो विश्व का मूल है वह प्रकृति अथवा मूलप्रकृति कहलाता है। प्रकृति के तीन गुण हैं जो सत्व, रजस् और तमस् कहलाते हैं। गुण का अर्थ यहाँ विशेषण नहीं है प्रत्युत डोरी या धागा है। प्रकृति सत्व, रजस् तमस् रूपी डोरियों से बटी हुई है। सत्व का स्वभाव प्रकाश है जिसके द्वारा ज्ञान, अच्छाई और सुख का अनुभव होता है।

रज का स्वभाव प्रवृत्ति अथवा क्रिया है जिसके द्वारा दुःख अथवा क्षोभ का अनुभव होता है। तम का स्वभाव है स्थिति (रुका रहना) जिसके द्वारा मोह का अनुभव होता है।

५८. दे० विकल्प : टि० ४८।

५९. अशुद्ध अध्वा के ग्राहक को मायाप्रमाता कहते हैं। माया प्रमाता वह प्रमाता है जो माया के राज्य में है। प्रलयाकल और सकल दोनों मायाप्रमाता के अन्तर्गत हैं। दे० टि० ३८ और ३९।

६०. **स्वातंत्र्य**—स्वतंत्र का भाव स्वातंत्र्य है। इसका अर्थ है अपना ही तंत्र, अपना ही राज्य "प्रकाश प्राण इत्यादि संकोच अपने स्वातंत्र्य से ग्रहण करता है"—यह कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपनी ही इच्छा से, अपने ही अधिकार से ऐसा करता है, माया इत्यादि से वशीभूत होकर नहीं।

६१. मल का अर्थ है, अशुद्धता, चैतन्यरूपी सुवर्ण को जो ढक लेता है वह मल है। इस दर्शन में ब्रह्माण्ड अथवा पिण्डाण्ड की वे संकुचित अवस्थाएँ मल कहलाती हैं जिनके कारण आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

मल तीन प्रकार का होता है—आणव, मायीय और कार्म। **आणवमल** मूल मल है जो कि परम चैतन्य को संकुचित करके अणु बना देता है। अणु का अर्थ है क्षुद्र, अत्यन्त परिच्छिन्न बिन्दु। यह मल वह संकुचित दशा है जिसके कारण परम चैतन्य का वास्तविक स्वरूप ढक जाता है। सारी सृष्टि शिव और उसकी शक्ति का खेल है। परम चैतन्य में बोध और शक्ति दोनों साथ ही साथ हैं। किन्तु अणु दशा में उसकी महिमा गोपित हो जाती है और वह अपने स्वरूप को भूल सा जाता है। अपने को अपूर्ण समझना "अपूर्णमान्यता'—पूर्ण स्वरूप का अज्ञान, संकोच या अणुता-आणव मल है। दो प्रकार के संकोच से आणव मल होता है (१) जो परम चैतन्य में बोध है उसका स्वातंत्र्य (शक्ति) चला जाता है। इसी मल के कारण जीव अपने को अपूर्ण रूप में अनुभव करता है। (२) जो परम चैतन्य का स्वातंत्र्य या शक्ति है उसमें अबोधता आ जाती है।

मायीय मल—वह परिसीमित स्थिति है जो माया के द्वारा आविर्भूत होती है। उसी माया के द्वारा जीव को सूक्ष्म और स्थूल शरीर प्राप्त होता है। यह माया विश्वव्यापी है। यह भिन्नवेद्य प्रथा

वाली है अर्थात् यह भिन्न कोशों और आकृतियों के कारण सब वेद्य वा ज्ञेय पदार्थों को भिन्न-भिन्न प्रदर्शित करती है।

कार्ममल:—अन्तःकरण की प्रेरणा से ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्पन्न कर्म की जो वासनाएं अथवा संस्कार चित्त में रह जाते हैं उन्हें कार्ममल कहते हैं। यही वासनाएं जीव को एक जन्म से दूसरे जन्म की ओर प्रवृत्ति करती हैं।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञानाकल में केवल एक आणव मल होता है। प्रलयाकल में दो अर्थात् आणव और मायीय मल होते हैं और सकल में आणव, मायीय और कार्म तीनों मल होते हैं।

६२. **शून्यस्वभाववाला** अर्थात् प्रलयकेवली अथवा शून्यप्रमाता। दे० टि० ३९।

६३. पुर्यष्टक: अर्थात् अष्ट (आठ) की पुरी वाला। तंत्र में सूक्ष्मशरीर या लिंग शरीर को पुर्यष्टक कहते हैं। यह पुर्यष्टक पांच तन्मात्राओं, मन, बुद्धि और अहंकार की समष्टि है। यही संस्कारों अथवा वासनाओं का आशय है।

६५. **उपाधि (उप+आ+/धा)**—जो पास में रक्खी हो, जो किसी वस्तु को—बिना उसके अंग बने हुए—परिसीमित कर दे।

६६. सुगत (जो अच्छी तरह गया है) भगवान् बुद्ध के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए बुद्ध के अनुयायी को सौगत कहते हैं।

६७. मध्यमक दर्शन के अनुयायी माध्यमिक कहलाते हैं। मध्यमक दर्शन बौद्धों का वह दर्शन है जो यह विश्वास करता है कि तत्त्व को हम किसी बौद्धिक प्रत्यय से नहीं व्यक्त कर सकते। वह सत् असत् इत्यादि बुद्धि की किसी भी कोटि में नहीं बांधा जा सकता। वह सब कोटियों के मध्य में है। उसके लिए किसी भी शब्द का प्रयोग करना उसे परिसीमित करना है। तत्त्व को हम केवल शून्य ही कह सकते हैं।

६८. **पांचरात्र:**—पाँचरात्र वैष्णवों का मुख्य दर्शन है। पाँचरात्र के मानने-वाले भी संस्कृत ही कहलाते हैं। पाँचरात्र शब्द कैसे बना यह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः कुछ कर्म (धार्मिक कृत्य) पाँच रात तक चलते रहे, उसी के आधार पर यह शब्द बना है।

६९. प्रकृति से यहाँ सांख्य की प्रकृति का तात्पर्य नहीं है। यहाँ पर परा-प्रकृति का अर्थ है परमोत्कृष्ट कारण। पाँचरात्र दर्शन यह मानता है कि वासुदेव ही सारी सृष्टि के उपादान और निमित्त दोनों कारण हैं।

७०. पांचरात्र जीव को वासुदेव का परिणाम मानता है। शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के 'उत्पत्ति असम्भवाधिकरणम्' पर अपने भाष्य में कहा है।

'तेषां वासुदेवः पराप्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्'

अर्थात् पांचरात्रों के मत में सर्वोत्कृष्ट कारण वासुदेव हैं। संकर्षण इत्यादि अन्य जीव कार्य हैं।

७१—क्षेमराज ने यहाँ थोड़ी सी भूल की है। पाँचरात्र लोग 'अव्यक्त' को परम तत्त्व नहीं मानते। वासुदेव को ही परम तत्त्व मानते हैं और वासुदेव को 'अव्यक्त' से बढ़ कर मानते हैं। शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र की 'उत्पत्ति—असम्भवाधिकरणम्' के भाष्य में इसकी पुष्टि की है—"तत्र यत्' तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूहावस्थित इति, तन्न निराक्रियते"।

७२. सांख्याः का अर्थ यहाँ "सांख्य के अनुयायी" है।

७३. दे० टि० ३८।

७४. यहाँ पर वैयाकरण से तात्पर्य है "व्याकरणदर्शन के अनुयायी"। व्याकरणदर्शन का संक्षिप्त वर्णन माधव द्वारा लिखित सर्वदर्शन-संग्रह के पाणिनिदर्शनम् नामक अध्याय में दिया हुआ है। यहाँ भर्तृहरि के वाक्यपदीय का संकेत है जिसमें पश्यन्ती को शब्द-ब्रह्म माना है।

७५-७६. व्याकरण दर्शन शब्द-ब्रह्म को परमार्थ मानता है। वैयाकरण शब्द को चैतन्य मानते हैं। उनके अनुसार शब्द वह है जिसमें चिन्तन और वचन एकी-भूत रहते हैं। ब्रह्म वह शाश्वत शब्द या स्पन्दन है जिससे सब कुछ प्रादुर्भूत होता है, त्रिकदर्शन के अनुसार भी पदार्थ, विचार और शब्द अव्यक्त रूप में परमशिव में बर्तमान है। यह परावाक् की भूमि है। इस भूमि में पद और अर्थ एकीभूत रहते हैं। दूसरी भूमि पश्यन्ती की है। इस भूमि में विश्व चैतन्य की दृष्टि में एक अविशेष रूप में स्थित रहता है जो कि मानव की अनुभूति से परे हैं।

क्षेमराज का कहना है कि वैयाकरण पश्यन्ती भूमि ही को शब्दब्रह्म की सर्वोच्च दशा मानते हैं। त्रिक के अनुसार यह भूमि तो केवल सदाशिव तक परिसीमित है। वैयाकरण परावाक् को नहीं मानते जो कि परमशिव का ज्ञापक है। पश्यन्ती भूमि के अनन्तर

मध्यमा भूमि है जो पश्यन्ती भूमि के अविशेष और वैखरी भूमि के विशेष के मध्य की अवस्था है। वैखरी व्यावहारिक विचार और वचन की भूमि है जिसमें मुख्यतः विशेषों का अनुभव होता है। मध्यमा पश्यन्ती और वैखरी के बीच की एक कड़ी है। वह अन्तःकरण में विचार और वचन की एक सूक्ष्म अवस्था है। वैखरी में पद (शब्द) विचार और अर्थ (वस्तु) से भिन्न प्रतीत होता है।

७९. "आगम" उस विद्या को कहते हैं जो सदा गुरु-शिष्य की परम्परा से चली आ रही हो। यहाँ आगम से तात्पर्य है शैवदर्शन की परम्परा।

८०. आर्हत का यहाँ तात्पर्य है जैनियों से। उनका कहना है कि विश्व परमाणुओं से बना हुआ है जो कि शाश्वत हैं। इनके भिन्न-भिन्न गुण होते हैं। इसलिए इनमें परिवर्तन होता रहता है। यहाँ जो आगम का वचन उद्धृत किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जैन इन गुणों को ही परमार्थ रूप समझते हैं और इनके आगे नहीं जा पाते।

८१. पाँचरात्रिक : दे० टि० ६८।

८२. **तान्त्रिक**—तन्त्र के अनुयायी तान्त्रिक कहलाते हैं। तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई गई है।

(१) तन् धातु से जिसका अर्थ है तानना, विस्तार करना। इस दृष्टि से तन्त्र का अर्थ है वह शास्त्र जिसमें सृष्टि और जीवन के तत्त्व विस्तार-पूर्वक समझाये गये हैं।

(२) 'तन्त्र' धातु से जिसका अर्थ है शासन करना, स्वायत्त करना। इस दृष्टि से तन्त्र का अर्थ है वह शास्त्र जो यह बतलाता है कि विभिन्न शक्तियों को किस प्रकार स्वायत्त करना चाहिए।

८३. 'कुल' शब्द का अर्थ इस सन्दर्भ में शक्ति है। कुलादि आम्नायों का यहां तात्पर्य है शाक्त शास्त्र।

८४. 'त्रिक' का अर्थ है तीन का समूह शिव, शक्ति और नर। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का यह दूसरा नाम है। इसके अनुसार परम अर्थ परमशिव है जो तीन के समूह शिव, शक्ति और नर में अभिव्यक्त होता है। त्रिकादि में जो आदि शब्द है उससे त्रिपुरा अथवा महार्थ समझा जा सकता है।

८५. **परशक्तिपात**—शक्तिपात अर्थात् अनुग्रह दो प्रकार का है (१) पर और (२) अपर। परशक्तिपात से अवच्छिन्न [परिसीमित] जीव पूर्ण

शिव की चेतना में रूपान्तरित हो जाता है। यह शक्तिपात केवल परमेश्वर द्वारा हो सकता है। अपरशक्तिपात से यद्यपि अवच्छिन्न जीव शिव से अपने तादात्म्य का अनुभव कर लेता है तथापि वह अभी यह अनुभव नहीं करता कि सारा विश्व उसी की अभिव्यक्ति है और वह इस प्रकार शिव की चेतना को नहीं प्राप्त कर पाता। अपर शक्तिपात गुरु अथवा देव द्वारा हो सकता है।

८६. 'विद्या' का अर्थ यहां पर वह अशुद्ध विद्या है जो कि माया के पांच कंचुकों में से एक है इससे परिमितता आ जाती है जिसके कारण जीव को परमार्थ का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता।

८७. 'तुरीय' का अर्थ है चौथा। संस्कृत में 'चतुर्' शब्द का अर्थ है चार। चतुर् शब्द का 'च' लोप हो जाने से और ईयट् प्रत्यय के लग जाने से [चतुर्+ईयट्] तुरीय शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है चौथा। संवित् शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिए उसका विशेषण भी स्त्रीलिंग होना चाहिए। इस प्रकार मूल में 'तुरीया संवित्' शब्द आया है। प्रत्येक व्यक्ति की चेतना की तीन अवस्थाएँ होती हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति [गहरी नींद जिसमें न जागरण है, न स्वप्न]। जब जाग्रत् अवस्था होती है, तब न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति। जब स्वप्नावस्था रहती है, तब न जाग्रत् रहता है, न सुषुप्ति। जब सुषुप्ति अवस्था होती है, तब न जाग्रत् रहता है, न स्वप्न। व्यक्ति को इन तीनों अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् भान होता है। किन्तु व्यक्ति के भीतर एक चौथी अवस्था भी है जो सभी अवस्थाओं का साक्षी है। यह तुरीयावस्था है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति--इन तीनों की अपेक्षा से उसे तुरीया [चौथी] अवस्था कहते हैं। तुरीया चेतना में कोई क्रम वा भंग नहीं होता। वह चेतना सदा तीनों अवस्थाओं का साक्षीरूप से वर्तमान रहती है। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को सदा धारण किये रहती हैं। देह, प्राण, मन इत्यादि से परिच्छिन्न जीव को उस तुरीया का अनुभव नहीं होता यद्यपि वह उसमें सदा वर्तमान रहती है। अविद्या हट जाने पर, आत्मिक ज्ञान के उदय होने पर तुरीया का अनुभव होता है। वही हमारी चेतना का वास्तविक स्वरूप है जिसकी अनुभूति जिन सीमाओं में हमारी चेतना बँधी हुई है उनको अतिक्रान्त करने पर होती है।

व्यष्टि की दृष्टि से तुरीया चेतना जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को धारण किये रहती है, किन्तु वह इन तीनों अव-

स्थाओं से भिन्न है। समष्टि की दृष्टि से तुरीया सृष्टि, स्थिति, संहार को धारण किये रहती है [सृष्टिस्थितिसंहार-मेलन रूपा इयं तुरीया]। जैसे एक सूत्र भिन्न-भिन्न पुष्पों को माला में धारण किये हुए रहता है, इसी प्रकार तुरीया तीनों अवस्थाओं को एक में धारण किये रहती है। उसमें भंग नहीं होता। वह पूर्ण चेतना है, एकत्व की चेतना है। वह संहार की दृष्टि से पूर्ण कही गई है, क्योंकि उस दशा में वह सभी पदार्थों को अपने में समेट लेती है, उद्वमन अर्थात् सृष्टि की दृष्टि से वह कृशा (दुबली) कही गयी है, क्योंकि उस दशा में जो पदार्थ उसमें समेटे हुए थे वे उसमें से निकले जा रहे हैं। अतः वह उभयरूपा (पूर्णा और कृशा दोनों) है। परमार्थ दृष्टि से वह अनुभयात्मा (न पूर्ण, न कृशा) है, क्योंकि वह भरने और खोदेने की अवस्थाओं से अतीत है।

८८. अणु और मल के लिए दे० टि० ६१।

८९. यहाँ कला का अर्थ है 'कर्तृत्व वा साधकता का संकोच वा परिच्छिन्नत्व'। दे० टि० १८।

९०. **मायीय मल** —दे० टि० ६१।

९१. कार्ममल दे० टि० ६१।

९२. कला···नियति दे० टि० (१८) : १८

शक्ति के संकोच वा परिच्छिन्नत्व को निम्नलिखित सारणी में व्यक्त किया जा सकता है।

शिव में वर्तमान शक्ति	अणु वा जीव में शक्ति का परिच्छिन्नरूप
१—सर्वकर्तृत्व	कला वा किंचित्कर्तृत्व
२—सर्वज्ञत्व	विद्या वा अल्पज्ञत्व
३—पूर्णत्व वा नित्यतृप्ति	राग वा भिन्न वस्तुओं के प्रति आसक्ति
४—नित्यत्व	काल वा अनित्यत्व
५—व्यापकत्व या स्वातंत्र्य	नियति वा देश और कारण का बन्धन।

९३. ईश्वराद्वयदर्शन का अर्थ है वह दर्शन जो यह मानता है कि ईश्वर को छोड़कर कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। यह कश्मीर के शैवदर्शन

का ही नाम है जो यह मानता है कि एकमात्र शिव ही परमार्थ है। शिव के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यहां ईश्वर शब्द शिव का ही पर्यायवाची है। शिव ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के रूप में प्रकट होता है।

९४. ब्रह्मवादियों से यहाँ उन वेदान्तियों से तात्पर्य है जो ब्रह्म के अतिरिक्त माया तत्त्व को सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण मानते हैं। शब्दतः ब्रह्मवादी का अर्थ है ब्रह्म सिद्धान्त को मानने वाला।

९५. **शुद्धेतराध्वः**—शुद्ध से भिन्न अध्वा अर्थात् अशुद्ध अध्वा। अध्वा शब्द का अर्थ है मार्ग। पारलौकिक सृष्टि को 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं। और लौकिक सृष्टि को 'अशुद्ध अध्वा'। सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध-विद्या शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं। माया से लेकर पञ्चमहाभूत तक 'अशुद्ध अध्वा' के अन्तर्गत हैं। इसको 'अशुद्ध अध्वा' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें भेदबुद्धि रहती है। शुद्ध अध्वा में अभेदबुद्धि रहती है।

९६. पाँच प्रकार का कृत्य (पंचविधकृत्य) दे० टि० ४। सूत्र १० में इस पाँच प्रकार के कृत्य का वर्णन ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से हुआ है।

९७. यह विलय इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें चिद्रूप महेश्वर अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन कर लेते हैं।

९८. ज्ञान में ज्ञेय ज्ञाता से एकाकार हो जाता है। प्रमिति का प्रमेय की परिच्छिन्नता से मुक्त होने पर प्रमाता से तादात्म्य हो जाता है।

९९. यहाँ पर पंचकृत्यों का वर्णन योगी के आन्तरिक अनुभव की दृष्टि से किया गया है। इस दृष्टि से आभासन सृष्टि है, रक्ति स्थिति है, विमर्शन संहार है, बीजावस्थापन विलय है, और विलापन अनुग्रह है।

१००. **महार्थ**—इस शास्त्र का 'महार्थ' रहस्यात्मक-'क्रम' शास्त्र प्रकार है।

१०१. "अहा! कैसा अद्भुत है"। इस प्रकार का अनुभव विमर्शन या चमत्कार कहलाता है। कलात्मक अनुभूति में जो एकाएक विचित्र आनन्द होता है उसमें 'चमत्कार' का अनुभव होता है।

१०२. पदार्थ के ज्ञान या प्रमेय को 'संहार' इसलिए कहा है, क्योंकि ज्ञान के समय पदार्थ बाह्यजगत् से संहृत होकर अर्थात् सिमट कर अपनी आन्तरिक चेतना की वस्तु बन जाता है। पदार्थ का पदार्थत्व या विषयत्व समाप्त होकर वह आन्तरिक चेतना का ज्ञान बन कर रह जाता है।

१०३. हठपाक—दो प्रकार से प्रमेय (अपने से भिन्न ज्ञेय विषय) प्रमातृ-स्वरूप से एकाकार बन जाता है। वे प्रकार हैं (१) शान्तिप्रशम (२) हठपाकप्रशम। 'प्रशम' का अर्थ है प्रमेय को प्रमातृभाव में लाकर एकाकार कर लेना। 'शान्तिप्रशम' वह प्रकार है जिसमें शान्ति से धीरे-धीरे क्रमशः प्रमेय को प्रमातृभाव में लाकर एकाकार किया जाता है। 'हठपाकप्रशम' वह प्रकार है जिसके द्वारा उपदेश के बल से एकदम, एक बार ही, प्रमेय का चिदग्नि में पाक हो जाता है अर्थात् प्रमेय प्रमाता से एकाकार हो जाता है। सृष्टि आदि उपाधियाँ बिल्कुल चिदग्नि में विगलित हो जाती हैं।

१०४. अलंग्रास—अलं का अर्थ है पूर्णरूप से, जिसमें संसार का कोई संस्कार भी न रह जाय। ग्रास का अर्थ है ग्रसन अर्थात् निगल जाना। अर्थात् प्रमेयों को स्वात्मसात् कर लेना, प्रमाता के साथ एकाकार कर लेना।

१०५. 'मंत्र'—दो अक्षरों से बना है—'मन्' + 'त्र'। 'मन्' का अर्थ है मनन करना और 'त्र' का अर्थ है त्राण। मनन करने से जो त्राण करे वह मन्त्र है। मन्त्र उन अक्षर, शब्द वा शब्दों को कहते हैं जिनके उच्चारण और मनन से शक्ति जागृत होती है। इस सन्दर्भ में संसार से मोक्ष दिलाने की शक्ति अभिप्रेत है।

१०६. दे० टि० ७५-७६। यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही परावाक् है। वह परमात्मा का मुख्य स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य है। अमायीय अक्षरों से जनित आन्तरिक शब्द करती रहने-वाली चिति को नित्य उदित (सदा उच्चरित की गई हुई) परावाक् कहते हैं। पूर्ण होने के कारण इसको 'परा' और प्रत्यवमर्श द्वारा विश्व का अभिलाप करने के कारण इसको 'वाक्' कहा जाता है। 'पूर्णत्वात् परा', वक्ति विश्वमभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च 'वाक्' ई० प्र० वि० पृ० २५३।

१०७. इसमें देवनागरी लिपि के सभी अक्षर समाविष्ट हैं। शैव दर्शन के अनुसार ये अक्षर भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं।

१०८. दे० टि० ७५-७६।

१०९. दे० टि० ४८। 'विकल्प क्रिया' विक्षेपशक्ति का संकेत करती है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थों का अवभास होता है। तदाच्छादितामेव—से आवरण शक्ति का संकेत है जो आत्मस्वरूप पर आवरण (परदा)

डाल कर अविकल्प भूमि को छिपा देती है। इसी एक वाक्य में लेखक ने शक्ति के विक्षेप और आवरण दोनों रूपों का संकेत कर दिया है।

११०. 'अविकल्प' निर्विशेष चेतना की भूमि है। यह भूमि 'यह' 'वह' इत्यादि विशेषों से परे विज्ञप्ति मात्र है। यह तुर्यातीत अवस्था है।

१११. 'ककार' इत्यादि अक्षरों की ब्राह्मी इत्यादि अधिष्ठात्री देवताएँ हैं। ये भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं जो ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी नामों से अभिहित की जाती हैं। प्रत्येक वर्ग की अधिष्ठात्री देवी इस प्रकार है :—

अधिष्ठात्री देवी	वर्ग
१. ब्राह्मी	कवर्ग
२. माहेश्वरी	चवर्ग
३. कौमारी	टवर्ग
४. वैष्णवी	तवर्ग
५. वाराही	पवर्ग
६. इंद्राणी	यवर्ग
७. चामुण्डा	शवर्ग
८. महालक्ष्मी	अवर्ग

११२. भाव यह है कि जब तक जीव पशुदशा में रहता है तब तक शक्तियों का चक्र (समुदाय) भेद की सृष्टि और स्थिति (अर्थात् भेद की उत्पत्ति और उसकी स्थिति) अवभासित करती हैं और अभेद का संहार (मिटा देना, हटा देना) प्रकट करती है। इस दशा में जीव को प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती है और यह भिन्नता का भाव बना ही रहता है और अभेद की चेतना विलुप्त रहती है। पति दशा में जब जीव बन्ध से मुक्त हो जाता है, तब पशुदशा के विपरीत अवस्था होती है, तब वे ही शक्तियाँ अभेद की सृष्टि और स्थिति करती हैं और भेद का संहार करती हैं। पतिदशा दो प्रकार की होती है—(१) अनादिसिद्धदशा जो शाश्वत है जैसे शिव में (२) योगिदशा—वह जो योगियों को अनुभूत होती है। यहाँ पर दूसरे प्रकार की ही पतिदशा का वर्णन है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि पशुदशा में—भेद की सृष्टि और स्थिति और अभेद का संहार करने में शक्तियों का चक्र काम करता है किन्तु पतिदशा में अभेद की सृष्टि और स्थिति करने में और भेद का संहार करने में—

इनका चक्र विगलित हो जाता है और स्वयं शक्तियाँ काम करने लग जाती हैं।

११३. **भैरव मुद्रा**—इसका लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार दिया हुआ है—

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेष-वर्जितः।
इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

दृष्टि निमेष (पलकों का बन्द करना) और उन्मेष (पलकों को खोलना) दोनों से वर्जित होकर बाहर की ओर लगी हो और चेतना बाहर की ओर न जाकर भीतर में स्थित आत्मा को अपना लक्ष्य बनाये रहे अर्थात् इंद्रिय तो बाहर की ओर खुली हो, किन्तु चित्त भीतर की ओर पलटा हुआ हो--यह अवस्था भैरवी मुद्रा की है जो कि सब तन्त्रों में गुप्त रखी जाती है।

११४. **शुद्ध विकल्प शक्ति**--यह वह विकल्प (विशेष प्रकार की कल्पना) है जिसमें साधक 'शिवोऽहं--मैं शिव हूँ' के भाव का अनुभव करता है। यह भी विकल्प है, किन्तु शुद्ध इसलिए कहा गया है क्योंकि इसमें साधक अन्य विकल्पों को छोड़ कर परमात्मा से अपने तादात्म्य के भाव को बनाये रखता है। यह परमात्मा से ऐक्य की चेतना है। इस शुद्ध विकल्प के अभ्यास से साधक निर्विकल्प अवस्था में पहुँच जाता है। शुद्ध विकल्प द्वारा साधक को यह अनुभव होने लगता है कि सारा विश्व मेरा ही (अर्थात् आत्मा का ही) वैभव है।

११५. **विकल्प**—दे० टि० ५०।

११६. 'महेशता' अथवा माहेश्वर्य वह अवस्था है जिसमें जीवात्मा महेश अथवा परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।

११७. यहाँ पर ग्रन्थकर्ता ने यह बतलाया है कि इस शक्ति का वामेश्वरी क्यों नाम पड़ा। 'वाम' शब्द 'वम्' धातु से सम्बद्ध है जिसका अर्थ होता है वमन करना, बाहर फेंकना। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिए कहलाती है क्योंकि यह विश्व को परम शिव से बाहर फेंकती है। 'वाम' शब्द का अर्थ बायाँ और विपरीत भी है। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिए भी कहलाती है, क्योंकि शिव में अभेद, पूर्णता की चेतना है किन्तु संसारदशा में उसके विपरीत भेद और अपूर्णता की चेतना है और प्रत्येक जीव--शरीर, प्राण इत्यादि को ही 'मैं' समझने लगता है। वामेश्वरी के 'वाम' में यह श्लेष वर्तमान है जो अनुवाद में नहीं व्यक्त किया जा सकता।

११८. खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी, वामेश्वरी शक्ति के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। खेचरी का सम्बन्ध प्रमाता से है, गोचरी का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, दिक्चरी का सम्बन्ध बहिष्करण (बाह्य इंद्रियों) से है, भूचरी का सम्बन्ध भावों (पदार्थों) से है। ये शक्तिचक्र अपरिच्छिन्न सत्ता को परिच्छिन्न (परिसीमित) बनाते हैं। खेचरी चक्र के द्वारा चेतन (आत्मा) अपरिमित प्रमाता से परिमित प्रमाता बन जाता है। गोचरी चक्र से वह अन्तःकरण से परिच्छिन्न हो जाता है। दिक्चरी चक्र के द्वारा वह बहिष्करणों से परिच्छिन्न हो जाता है। भूचरी चक्र के द्वारा वह भावों (पदार्थों) में ही अटका रह जाता है।

खेचरी—खे (आकाशे) चरतीति खेचरी। 'ख' शब्द का अर्थ आकाश है। 'खे' सप्तमी विभक्ति है। इसका अर्थ है 'आकाश में'। यहाँ पर 'ख' या आकाश चित् का प्रतीक है। इस शक्ति का नाम खेचरी इसलिए पड़ा है क्योंकि इसका क्षेत्र चिद्गगन है। चिद्गगन के पारमार्थिक स्वभाव को छिपाकर यह प्रमाता को परिमित बना देती है। वह अब पशु बन जाता है।

गोचरी उसे कहते हैं जिसका क्षेत्र अन्तःकरण होता है। संस्कृत का 'गो' शब्द गमन वा चलन का द्योतक है। किरण, गो, इन्द्रिय यह सब 'गो' कहलाता है क्योंकि इन सब में गमन का भाव निहित है। अन्तःकरण इंद्रियों का आश्रय है, वही इंद्रियों को परिचालित करता है। इसलिए वह गोचरी शक्तिचक्र का क्षेत्र है।

दिक्चरी वह शक्ति है जो दिक् (दिशाओं) में चलती रहती है। बहिष्करण वा बाह्य इंद्रियों का सम्बन्ध दिक् या देश से है। इसलिए दिक्चरी शक्तिचक्र का क्षेत्र बाह्य इंद्रियाँ हैं।

भूचरी में जो 'भू' शब्द है उसका अर्थ है 'होना'। जो कुछ हो गया है वह 'भू' के अन्तर्गत है। अतः यह भाव अर्थात् पदार्थ वा प्रमेयों (विषयों) का द्योतक है। सभी पदार्थ वा प्रमेय भूचरी के क्षेत्र हैं।

परिमितप्रमाता—उसका अन्तःकरण उसका बहिष्करण और उसके प्रमेय सभी भिन्न शक्तिचक्रों की अभिव्यक्ति हैं।

११९. **अन्तःकरण के तीन प्ररूप हैं**—बुद्धि, अहंकार और मन। बुद्धि का काम निश्चय करना है, अहंकार का काम अभिमान है जिसके

द्वारा जीव शरीर इत्यादि अनात्म पदार्थों से तादात्म्य स्थापित करता है और भोक्ता बनता है और मन का कार्य है पदार्थों का 'यह घट है', 'यह पट है' इत्यादि प्रकार से, भेद विकल्प करना।

१२०. ऐश्वर्यशक्ति परमेश्वर अर्थात् परमशिव के प्रभुत्व अथवा आधिपत्य की शक्ति है। यह उसकी स्वातंत्र्य शक्ति का ही दूसरा नाम है। स्वातंत्र्य शक्ति का यह भाव है कि परमशिव सब कुछ करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने में पूर्णतः स्वतंत्र है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी ऐसी शक्ति नहीं जिसके दबाव से वह ऐसा करता हो।

१२१-१२२. स्फुरत्ता प्रकाश का ही दूसरा नाम है और कर्तृता विमर्श का दूसरा नाम है। प्रकाश और विमर्श को समझने के लिए देखिऐ टि० २१।

१२३. **प्राण, अपान समान शक्ति**--पंचप्राण प्रसिद्ध हैं। वे हैं प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। ये अधिकतर पाँच वायु के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं पाँच प्राणों से जीवों का जीवन चलता रहता है। प्राण शरीर से भिन्न होते हैं। वे शरीर के सारे कार्य चलाते रहते हैं। प्राणों की अभिव्यक्ति वायु के द्वारा होती है। प्राण सामान्य अर्थ में जीवन के कार्य चलाने वाली सभी शक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है। विशेष अर्थ में प्राण वह वायु है जो नथने से बाहर निकलता है जिसे प्रश्वास कहते हैं। अपान वह वायु है जो नीचे गुदा की ओर जाता है और जो मल-मूत्र को बाहर फेंकता है। समान वह वायु है जो शरीर के भीतर कार्य करता हुआ अन्न इत्यादि के पचाने के अनन्तर उनका शरीर में समीकरण करता है। उदान वह वायु है जो ऊपर की ओर जाता है। 'व्यान' का अर्थ है 'सभी दिशाओं में जाना'। वह समस्त शरीर में व्याप्त रहता है।

यहाँ पर प्राण, अपान, समान इत्यादि शक्ति कहे गये हैं। इन्हीं नाम के वायु इन्हीं शक्तियों के कार्य हैं जैसे प्राण वायु प्राणशक्ति का कार्य है इत्यादि।

प्राण, अपान, समान शक्तियों से जीव बद्ध होता है, वह पशु बनता है और उदान और व्यान शक्तियों से वह मुक्त हो जाता है, पति बनता है।

१२४. **पुर्यष्टक**—यह सूक्ष्मशरीर का पर्याय है जो कि संस्कारों का कोश है, जो स्थूल शरीर की भाँति मृत्यु के समय नष्ट नहीं हो जाता। पुर्यष्टक= पुरी+अष्टक। पुरी का अर्थ है पुर (नगर)। अष्टक का अर्थ है

अष्ट (आठ) का समुदाय। पुर्यष्टक का अर्थ हुआ 'आठ के समुदाय वाला पुर'।

यह अष्टक या आठ का समुदाय निम्नलिखित है :—

५ तन्मात्राएँ+बुद्धि+मन+अहंकार।

१२५. इस सन्दर्भ में कला का अर्थ है, भाग, अंग जो जीव को परिमित और बद्ध बनाते हैं।

१२६. जब प्राण और अपान तुल्यबल हो जाते हैं, तब उदान शक्ति का आविर्भाव होता है। तब उदानशक्ति क्रियाशील हो जाती है और मध्यधाम वा सुषुम्ना के भीतर में ऊपर की ओर जाती है और तुर्य अर्थात् चेतना की चौथी अवस्था को प्रकट करती है।

१२७. 'मध्यधाम' मध्यवाली नाडी है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। सुषुम्ना की दोनों ओर नाड़ियां हैं जो भौतिक नाड़ियां नहीं हैं, किन्तु प्राण की नाड़ियाँ हैं। जिनमे से कुछ प्रवाह होता है वह नाड़ी कहलाता है। सुषुम्ना की दोनों ओर जो नाड़ियाँ है वे इडा और पिंगला कहलाती हैं। इडा नाड़ी में प्राण का प्रवाह होता है और पिंगला में अपान का। इडा सुषुम्ना की बाईं ओर है पिंगला दाहिनी ओर। इडा को सूर्यनाड़ी और पिंगला को चन्द्रनाड़ी भी कहते हैं। सुषुम्ना वह नाड़ी है जो मेरुदण्ड के भीतर से होकर ऊपर मस्तिष्क की ओर जाती है। मनुष्य में सामान्यतः प्राण और अपान शक्तियाँ ही क्रियाशील रहती हैं। जब योग के अभ्यास से प्राण और अपान की धाराएँ तुल्यबल हो जाती हैं, तब मध्यधाम अर्थात् सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और उदान की धारा उसके भीतर से सहस्रार की ओर बहने लगती हैं और तब चेतना की तुर्य अवस्था घटित होती है।

१२८. **तुर्य**—तुर्य शब्द का अर्थ है चौथा। चतुर् शब्द का अर्थ होता है चार। तुर्य शब्द 'चतुर्+यत्' से बना है। 'चतुर' के 'च' का लोप हो जाता है, केवल 'तुर्' रह जाता है और यत् प्रत्यय के त् का लोप हो जाता है, केवल 'य' रह जाता है। 'तुर्+य' से 'तुर्य' हो जाता है जिसका अर्थ होता है चौथा।

सामान्यतः मनुष्य की चेतना तीन अवस्थाओं में कार्य करती रहती है—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)। जब मध्य धाम अथवा सुषुम्ना में उदान शक्ति क्रियाशील होती है, तो तुर्य अर्थात् चौथी

अवस्था की चेतना की उपलब्धि होती है। इस अवस्था में अभेद बुद्धि होती है, भेदबुद्धि चली जाती है। यह अवस्था आनन्दपूर्ण होती है।

प्रथम अर्थात् जाग्रत् अवस्था में, देह, प्राण, मन और इंद्रियां क्रियाशील रहती हैं। द्वितीय अर्थात् स्वप्न की अवस्था में केवल प्राण और मन क्रियाशील रहते हैं। तृतीय अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में मन भी निष्क्रिय हो जाता है और आत्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्य को केवल शून्य का बोध रह जाता है। तुर्य अर्थात् चौथी अवस्था में जीव उपर्युक्त अवस्थाओं से छुटकारा पा जाता है और चिदानन्दघन अवस्था में रहता है।

हमारी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ परस्पर पृथक् होती हैं अर्थात् जाग्रत् अवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था नहीं रहती, स्वप्नावस्था में जाग्रत् और सुषुप्ति की चेतना नहीं रहती, सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न की चेतना नहीं रहती। जब हम एक अवस्था में रहते हैं, तो हमें अन्य दो अवस्थाओं का बोध नहीं रहता। प्रत्येक अवस्था का बोध पृथक्-पृथक् होता है। इन तीनों अवस्थाओं में हमारी चेतना खण्डशः कार्य करती है। किन्तु जब हमें तुर्यावस्था की उपलब्धि होती है, तो हमें बराबर तीनों अवस्थाओं का बोध रहता है। तुर्य अखण्ड सम्पूर्ण चेतना है, उसे सदा तीनों अवस्थाओं का बोध रहता है। तुर्य अविच्छिन्न चेतना है।

जब तुर्य चेतना दृढ़रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है, तो मन की खण्डवृत्ति अर्थात् मन का खण्डशः विभागशः जानने का स्वभाव क्षीण हो जाता है। तुर्य चेतना एक ऐसी अवस्था है जिसके द्वारा हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का सदा बोध रहता है। माया के कारण हममें भेदबुद्धि रहती है। तुर्य अर्थात् चौथा एक सापेक्ष शब्द है। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से तुर्य या तुरीय (चौथा) कहा जाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएं विलुप्त नहीं हो जातीं। केवल यह होता है कि तुर्य अवस्था को उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का सदा बोध रहता है वह उपर्युक्त तीन अवस्थाओं से छिन्न नहीं रहती। तुर्य अवस्था उदान-शक्ति के द्वारा सम्पन्न होती है।

१२९. **व्यानशक्ति**—समष्टि की दृष्टि से यह विश्व भर में व्याप्त है; व्यष्टि की दृष्टि से कुण्डलिनी के जाग्रत् होने पर यह सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है और इसके द्वारा तुर्यातीत अवस्था सम्पन्न होती है।

१३०. **तुर्यातीत दशा**:—इसका अर्थ है 'तुर्य अर्थात् चौथे से अतीत'। यह तुर्य से परे की अवस्था है। तुर्य (चौथा) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से तुर्य कहलाता है। तुर्यातीत दशा में उपर्युक्त तीन अवस्थाओं का विलोप हो जाता है। इसलिए जब तीन अवस्थाओं का विलोप हो जाता है, तब तुर्य जो उन तीनों की अपेक्षा से तुर्य कहलाता था फिर तुर्य नहीं कहा जा सकता। तब वह अवस्था तुर्यातीत कहलाती है अर्थात् वह अवस्था जिसमें तुर्य अतीत हो गया है, चला गया है, समाप्त हो गया है। तुर्यातीत दशा में चेतना निस्तरङ्ग महोदधि के समान हो जाती है और आनन्द से परिपूर्ण होती है। यह शिव-चेतना है। यह वह अवस्था है जिसमें समस्त विश्व का अपने आत्मा जैसे भान होता है। तुर्य दशा में मन केवल क्षीण हो जाता है, तुर्यातीत दशा में वह **शक्ति में विलीन** हो जाता है। जब तुर्य अवस्था पूर्णरूप से विकसित होकर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब वह तुर्यातीत में परिणत हो जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति को सब कुछ शिव या आत्मा जैसा प्रतीत होता है।

१३१. **पतिदशा**—यह वह दशा है जिसमें जीव का पति अर्थात् शिव से तादात्म्य हो जाता है।

१३२. ९ वें विद्वत् सूत्र में संसारित्व का वर्णन परमशिव के दृष्टिकोण से किया गया है। उसमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से अपनी इच्छा ज्ञान-क्रिया शक्तियों का संकोच करके संसारित्व सम्पादित करता है। इस १२वें सूत्र में संसारित्व का वर्णन जीव के दृष्टिकोण से किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि किस प्रकार जीव पशुदशा में अपने ही शक्तिचक्रों से व्यामोहित होकर संसारित्व को प्राप्त होता है और किस प्रकार पतिदशा में उदानशक्ति से तुर्यावस्था और व्यानशक्ति से तुर्यातीत अवस्था में पहुँच जाता है। जीव पशुदशा में शक्तिचक्रों में व्यामोहित होकर संसारी बनता है, पतिदशा में शक्ति के विकास से जीवन्मुक्ति लाभ करता है।

१३३. यहाँ पर नहीं बतलाया गया है कि ग्रन्थकार प्रत्यभिज्ञा की किस टीका का संकेत कर रहा है। सम्भवतः उत्पलाचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका पर जो विवृति लिखी थी और जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है उसी का संकेत ग्रन्थकार ने किया है।

१३४. **चित्त**––जीव की संकुचित संवित ।

१३५. **चेतन**––इस शब्द का इस प्रसंग में अर्थ है आत्मा की तात्विक संवित् ।

१३६. **चिति**––संवित् का असंकुचित वास्तविक स्वरूप । इसे चित् भी कहते हैं । चित् की शक्ति को प्राय: 'चिति' कहते हैं ।

१३७. उत्पलदेव या उत्पलाचार्य का काल ९००–९५० ईशवी शती है । यह उद्धरण शिवस्तोत्रावली से किया गया है ।

१३८. **परम्परागत त्रिमूर्ति है**––ब्रह्मा, विष्णु, शिव । इस शास्त्र में शिव चरम सत् के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसलिए इसमें शिव के स्थान में इंद्र शब्द का प्रयोग हुआ है ।

१३९. यह उद्धरण वसुगुप्त की स्पन्दकारिका का है । पूरी कारिका इस प्रकार है :––

तदाक्रम्यबलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥ (श्लो० २ का १०)

अर्थात् मन्त्र (चिति) के उस बल को प्राप्त कर सर्वज्ञ (शिव) के बल से सम्पन्न हो जाते हैं और तब अपने अधिकृत कार्य में प्रवृत्त होते हैं जैसे देही (व्यक्ति) की इंद्रियाँ (देही की शक्ति से अपने अधिकृत कार्य में प्रवृत्त होती हैं, केवल अपने से ही नहीं) ।

१४०. समावेश समाधि की वह अवस्था है, जिसमें एकत्व का बोध होता है, जिसमें समस्त विश्व का आत्मवत् बोध होता है, जिसमें जीव की चेतना शिव की चेतना से तादात्म्य लाभ करती है ।

१४१. **व्युत्थानदशा**––व्युत्थान का शाब्दिक अर्थ है 'उठना' । व्युत्थानदशा का अर्थ है समाधिदशा से चित्त का साधारण दैनिक जीवन की दशा में आ जाना ।

१४२. **देहप्राणनीलसुखादिषु**––'देहप्राण' प्रमाता का सूचक है । इसमें सापेक्ष बुद्धि से देह बाह्य है और प्राण आन्तर, 'नीलसुखादि' प्रमेय का सूचक है । इसमें 'नील' बाह्यप्रमेय और 'सुख' आन्तर प्रमेय का सूचक है ।

१४३. **मध्य**––मध्यनाड़ी; 'मध्य' शाम्भव दृष्टि से सर्वव्यापी चित् है जो कि सबके भीतर की मध्यभूत सत्ता है । वह शिव की विशुद्ध अहंता (अहं-चेतना) है । 'शक्ति' की दृष्टि से वह ज्ञान–क्रिया है । 'अणु' (जीव) की दृष्टि से वह मध्य नाड़ी है ।

मध्यनाड़ी अथवा मध्यमानाड़ी सुषुम्ना नाड़ी है जो इडा और पिंगला के बीच की नाड़ी है।

'नाडी' शब्द नड धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ गिरना या बहना है। जिसमें से कुछ गिरे या बहे वह नाडी है। नाडी वह नली है जिसमें से प्राण का प्रवाह होता रहता है। सुषुम्ना नाडी का मध्य वा मध्यमानाडी नाम इसलिए है क्योंकि वह शरीर के मध्य में है। 'सुषुम्ना' शब्द की व्युत्पति सन्दिग्ध है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति है 'सुषु इत्यव्यक्तशब्दं मनति' (सुषु + √म्ना) अर्थात् जो 'सुषु' यह अव्यक्त ध्वनि करती रहती हैं, वह सुषुम्ना है। कुछ लोगों ने नाडी को 'नर्व' (वायुनाडी) और चक्रों को 'गैंग्लिया' (नाडी ग्रन्थि) समझ रक्खा है। यह भ्रम है। योग की नाडी और चक्र स्थूल शरीर के अङ्ग नहीं हैं। वे सूक्ष्म शरीर में प्राणमयकोश के अंग हैं। केवल उनका संस्पर्श और प्रभाव स्थूल शरीर के 'नर्व' (नाडी) और 'गैंग्लिया' (नाडीग्रन्थियों) के द्वारा व्यक्त होता है। चक्र प्राणशक्ति के अधिष्ठान हैं।

१४४. प्राणशक्ति का इस सन्दर्भ में तात्पर्य सर्वव्यापी आद्या प्राणशक्ति से है, न कि व्यक्ति के भीतर जो प्राणवायु है। चिति का आत्मस्वरूप को गोपन करने के लिये और धीरे-धीरे पञ्चमहाभूत में परिणत हो जाने में यह पहला क्रम है। इस प्राणशक्ति को महाप्राण भी कहते हैं।

१४५. ब्रह्मरन्ध्र—तंत्रशास्त्र के अनुसार प्राणमय कोश में कई चक्र अवस्थित हैं जो कि प्राण के भिन्न-भिन्न केन्द्र हैं। ये चक्र इसलिए कहलाते हैं क्योंकि इनकी आकृति चक्र (चाक) जैसी प्रतीत होती है। इनके भीतर प्राण पुञ्जीभूत रहता है और प्राणमयकोश के माध्यम से उस प्राण का वितरण सारे स्थूल शरीर को होता है।

जब ऊपर के चक्र जागृत हो जाते हैं तब साधक को कुछ सूक्ष्म और गुह्य अनुभव होते हैं। उनके नाम स्थूल शरीर के सबसे निकट के अवयवों के साथ नीचे दिये हैं।

संख्या	सबसे निकट का स्थूलशरीर का अवयव	चक्र
१.	जननेन्द्रिय के नीचे मेरु दण्ड का प्रदेश	मूलाधार
२.	जननेन्द्रिय के ऊपर ,, ,,	स्वाधिष्ठान
३.	नाभि का ,, ,,	मणिपूर

४.	हृदय का	मेरु दण्ड का प्रदेश	अनाहत
५.	कण्ठ के नीचे का	,, ,,	विशुद्ध
६.	भ्रूमध्य का	,, ,,	आज्ञा
७.	सिर का ऊपरी भाग	,, ,,	सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र ।

१४६. **अधोवक्त्र**--इसका शब्दार्थ है नीचे का अवयव। इसको मेढ़्कन्द भी कहते हैं। यह गुदा के मूल में है।

१४७. **पलाशपत्र**--ढाक के पत्ते को पलाशपत्र कहते हैं। पलाशपत्र की मध्य शाखा का तात्पर्य है 'मध्यतन्तु'। सुषुम्ना की पलाशपत्र के मध्यतन्तु से उपमा दी गई है। जो नाड़ियाँ सुषुम्ना से शरीर में चारों ओर जाती हैं, उनकी उपमा पलाशपत्र के मध्यतन्तु में जुड़ी हुई अन्य तन्तुओं से दी गई है जो कि उस पत्र के चारों ओर फैली हुई हैं।

१४८. **मध्यम नाड़ी**--सुषुम्ना है जो कि मेरुदण्ड के भीतर से होती हुई मस्तिष्क तक जाती है। यह मूलाधार से सहस्रार तक प्रसृत है। सुषुम्ना आग के समान चमकती हुई तामसिक नाडी है। इसके भीतर दीप्तिमती वज्रा या वज्रिणी नाडी है जो राजसिक है। इस वज्रिणी नाडी के भीतर पीतवर्ण की चित्रा या चित्रिणी नाडी है। इसी चित्रिणी नाडी के भीतरी भाग को ब्रह्मनाडी कहते हैं। तन्त्रों ने सुषुम्ना को 'वह्निस्वरूपा' (आग के समान) वज्रिणी को सूर्यस्वरूपा (सूर्य के समान) चित्रिणी को चन्द्रस्वरूपा (चन्द्र के समान) बतलाया है। चित्रिणी नाडी जहाँ समाप्त होती है वहाँ जो छिद्र है वह ब्रह्मद्वार कहलाता है। इसी द्वार के भीतर से कुण्डलिनी शक्ति ऊपर को जाती है।

इडा और पिंगला नाड़ियाँ सुषुम्ना के बाहर हैं जो कि समानान्तर रूप में उसके ऊपर से जाती हैं। बाईं ओर इडा है और दाहिनी ओर पिंगला। ये नाडियाँ धनुषाकारवत् टेढ़ी हैं। ये नासारन्ध्र तक गई हैं। मेरुदण्ड के मध्य में सुषुम्ना है। उसके बाहर बाईं ओर इडा है और दाहिनी ओर पिंगला इन तीनों का आज्ञा चक्र के पास संयोग होता है जो कि त्रिवेणी कहलाता है।

१४९. यह विकास शाम्भवोपाय और शाक्तोपाय की दृष्टि से होता है।

१५०. **ब्रह्मनाडी** --यह मध्यनाडी या सुषुम्ना का ही दूसरा नाम है।

१५१. **यदामध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति**—यह विकास आणवोपाय की दृष्टि से होता है।

१५२. प्राणायाम का अर्थ है प्राण का आयाम। आयाम का भाव है नियमन अर्थात् नियमित करने की क्रिया।

प्राण-अपान, श्वास-प्रश्वास को एक विशेष नियम से लेने और छोड़ने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं।

१५३. **मुद्रा**—इसका साधारण अर्थ है 'छाप, मोहर'। योग में इसका अर्थ होता है विशेष अंग-विन्यास, (विशेष रूप से हाथ और अँगुलियों की निश्चित स्थिति)। अधिक व्यापक रूप में इसका अर्थ होता है कुछ अवयवों और इंद्रियों का विशेष-नियंत्रण जिससे ध्यान और समाधि में सहायता मिलती है, जैसे भैरवी मुद्रा। देखिए घेरण्डसंहिता—तृतीयोपदेश।

१५४. **बन्ध**—इसका शाब्दिक अर्थ है 'बाँधना'। इस सन्दर्भ में इसका अर्थ है योग की वह क्रिया जिसमें किसी विशेष अवयव या अंग को आकुंचित करके रोके रखते हैं।

१५५. **हृदय**—इसका अर्थ यहाँ पर वह हृदय या मांसपिण्ड नहीं है जिसके द्वारा सारे शरीर में रक्त प्रसारित होता है। यहाँ पर हृदय का भाव है 'अन्तस्तम चेतना'। इसको हृदय इसलिए कहा है क्योंकि यह समस्त सत्ता का केन्द्र है। यह वह प्रकाश है जिसमें सारा विश्व निहित है। व्यक्ति में यह आध्यात्मिक केन्द्र है।

१५६. **विकल्प**—दे० टि० ५०।

१५७. **तुर्य**—दे० टि० १२८।

१५८. **तुर्यातीत**—दे० टि० १३०।

१५९. यहाँ पर क्षेमराज ने भूल की है। कठोपनिषद्—अथर्ववेद की नहीं है, यजुर्वेद की है। अश्नन् के स्थान पर प्रायः इच्छन् पाठ मिलता है।

१६०. **स्वसंवित्ति अथवा आत्मचेतना की दो स्थिति होती हैं**—(१) शान्तोदित (२) नित्योदित। (१) शान्तोदित वह स्थिति है जिसमें आत्मचेतना का आविर्भाव होता है, किन्तु फिर तिरोभाव हो जाता है। (२) नित्योदित में आत्मचेतना का सदा आविर्भाव बना रहता है, कभी तिरोभाव नहीं होता। आत्मा तो नित्योदित है ही, उसमें हमारी चेतना की स्थिति बराबर नहीं रहती। शक्तिसंकोच के सिद्ध होने पर हमारी चेतना की नित्योदित में स्थिति हो जाती है।

१६१. **ऊर्ध्वकुण्डलिनी**——जब प्राण और अपान सुसुम्ना में प्रवेश करते हैं और कुण्डलिनी ऊपर को उठती है तो उसे ऊर्ध्वकुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी एक विशेष शक्ति है जो मूलाधार में ३½ वलयों (लपेटों) में प्रसुप्तरूप में वर्तमान है। जब वह मन्त्र अथवा ध्यान के द्वारा जाग्रत् होती है, १¾ वलयों से सुषुम्नानाड़ी के भीतर से ऊपर की ओर उठती है, लम्बिका को पारकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है, तो वह ऊर्ध्वकुण्डलिनी कहलाती है और उसकी इस व्याप्ति को विकास या विष कहते हैं। जिह्वामूल के पास चार प्राण नाड़ियों के चतुष्पथ (चौराहा) को लम्बिका कहते हैं। दो नाडियाँ वे हैं जिनके द्वारा सभी जीवों में प्राण का प्रवाह होता है। तीसरी नाडी वह है जिसके द्वारा योगी मूलाधार से ऊर्ध्वकुण्डलिनी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। चौथी नाड़ी उन सिद्ध योगियों के लिए है जिनका प्राण-वायु बिना मूलाधार से होकर सीधे ब्रह्मरन्ध्र को चला जाता है।

१६२. **षष्ठवक्त्र**——यहाँ वक्त्र का अर्थ अवयव है आँख, कान, नाक, मुख और पायु को पंचवक्त्र कहते हैं। मेढ्रकन्द को जो गुदा के मूल में है षष्ठ-वक्त्र (छठा अवयव) कहते हैं।

१६३. **अधः कुण्डलिनी**——लम्बिका से मूलाधार में वर्तमान कुण्डलिनी के १¾ वलय तक का क्षेत्र अधःकुण्डलिनी का है। प्राण का प्रवाह अधः-कुण्डलिनी के द्वारा लम्बिका से मूलाधार की ओर होता है। इस दशा को संकोच या वह्नि कहते हैं। प्राण अपान का मिलकर सुषुम्नाधाम के द्वारा मूलाधार तक आ जाने का नाम अधःकुण्डलिनी है।

१६४. **वह्नि-विष**——वह्नि का अधःकुण्डलिनी से सम्बन्ध है और विष का ऊर्ध्वकुण्डलिनी से। अधःकुण्डलिनी में प्रवेश (आवेश) संकोच अथवा वह्नि कहलाता है। ऊर्ध्वकुण्डलिनी में उठना विकास अथवा विष कहलाता है। वह्नि का प्राण वायु से सम्बन्ध है और विष का अपान वायु से। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है और अधः कुण्डलिनी अथवा मूलाधार तक जाता है तब इस दशा को वह्नि कहते हैं। अधःकुण्डलिनी के मूल और आधे मध्य तक में प्रवेश वह्नि अथवा संकोच कहलाता है। वह्नि शब्द 'वह' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'ले चलना, ले जाना'। अग्नि को वह्नि इसलिए कहते हैं क्योंकि वह जो कुछ उसमें हवन किया जाता है उसे देवों तक ले जाती है। इस दशा में प्राण का मूलाधार तक वहन होता है (अर्थात् जाता है) इसलिए उसे वह्नि कहते हैं।

अधःकुण्डलिनी के मध्य के शेष अर्धभाग और उसके पूर्ण अग्रभाग से लेकर ऊर्ध्वकुण्डलिनी तक में आवेश अथवा प्रवेश विष कहलाता है।

इस प्रसंग में विष शब्द का अर्थ जहर नहीं है। विष शब्द 'विष्' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'व्याप्त होना, फैल जाना'। अतः विष का अर्थ है प्रसर या विकास। जहर को विष इसलिए कहते हैं क्योंकि वह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। 'वह्नि और विष के मध्य में चित्त को फेंकना चाहिए'—यह कहने का तात्पर्य यही है कि जब प्राण और अपान सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं तब चित्त को वह्नि और विष के बीच में अर्थात् अधःकुण्डलिनी और ऊर्ध्वकुण्डलिनी के बीच में निरुद्ध कर देना चाहिए। निरुद्ध कर देने का तात्पर्य यह है कि वहीं उसे रोक देना चाहिए।

१६५. **स्मरानन्द**—इस प्रकार जब चित्त अधः और ऊर्ध्वकुण्डलिनी के बीच में निरुद्ध किया जाता है तब मैथुन के आनन्द की अनुभूति होती है। यह परावृत्त कामानन्द है। मैथुन का संगम बाह्य है, यह संगम आन्तरिक है।

१६६. इस स्थान पर इस सम्प्रदाय की यौगिक क्रिया का वर्णन है। मध्य के विकास से ही सिद्धि होती है। अणु अर्थात् जीव के लिए इसका अर्थ है सुषुम्ना में जो कि इडा और पिंगला नाड़ियों के मध्य में है—प्राणशक्ति का विकास। मध्य की सिद्धि का एक उपाय है शक्ति का संकोच और विकास। संकोच और विकास के शाब्दिक अर्थ से इस यौगिक क्रिया का भाव नहीं व्यक्त हो सकता। यहाँ पर संकोच का निम्नलिखित तात्पर्य है : जब इन्द्रियों के द्वारा चित्त विषयों की ओर उन्मुख होता है, जब इन्द्रियां रूप, शब्द, गन्ध इत्यादि के ग्रहण में लगी होती हैं, तब चित्त को उनकी ओर से खींच कर भीतर की ओर उस आत्मतत्त्व की ओर लगा देना चाहिए जो कि सभी कार्यों का उद्भव और अधिष्ठान है।

विकास का अर्थ है इन्द्रियों के बाहर खुले रहने पर भी भीतर की ओर लक्ष्य रखना अर्थात् भैरवी मुद्रा का अभ्यास।

संकोच का भाव है बाह्य विषयों से प्रत्याहार। विकास का भाव है इंद्रियों के विषयों के प्रति उन्मुख रहने पर भी आन्तरिक चेतना पर ध्यान।

संकोच और विकास का और अधिक संवर्धन किया जाता है ऊर्ध्वकुण्डलिनी के स्तर पर प्रसर-विश्रान्ति द्वारा। इस सन्दर्भ में प्रसर को विकास का और विश्रान्ति को संकोच का पर्याय समझना चाहिए। योगी सुषुम्ना में प्राणशक्ति का विकास करता है और भ्रूमध्य में उसका निरोध कर ऊर्ध्वकुण्डलिनी के स्तर पर पहुँचता है। यहाँ वह प्रसर-विश्रान्ति का अभ्यास करता है। संकोच-विकास का संवर्धन अधःकुण्डलिनी में भी करना पड़ता है। अधःकुण्डलिनी के मूल और मध्य के अर्धभाग में अनुप्रवेश संकोच अथवा वह्नि कहलाता है और अधःकुण्डलिनी के शेष अर्धभाग और अग्रभाग में वहाँ तक अनुप्रवेश जहाँ कि ऊर्ध्वकुण्डलिनी का पर्यवसान होता है विकास अथवा विष अथवा उन्मीलन समाधि कहलाता है।

१६७. **अनच्क**—अच् अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ=अर्थात् सभी स्वर। अनच्क का तात्पर्य है ककार, हकार इत्यादि का बिना स्वर के उच्चारण करना (क् ह्)। अनच्क उच्चारण का मुख्य भाव है किसी मंत्र पर ध्यान करते हुए उसके उद्गम तक पहुँच जाना जहाँ वह उच्चारणरहित है।

१६८. प्राण हृदय से प्रारम्भ होता है और द्वादशान्त पर समाप्त होता है अर्थात् दोनों भ्रुवों के बीच से बारह अंगुल के अन्त पर समाप्त होता है। हृदय से यहाँ तात्पर्य है 'उरः प्राचीर (डायफ्राम) का मध्य बिन्दु'। निभालन का तात्पर्य है चित्त का हृदय से प्राण के प्रारम्भ होने और द्वादशान्त पर समाप्त होने पर और अपान के द्वादशान्त पर प्रारम्भ होने और हृदय पर समाप्त होने पर लगाना। प्राण के उठने और ठहरने पर और इसी प्रकार अपान के उठने और ठहरने पर चित्त को लगाये रखना निभालन कहलाता है। यह बौद्धयोग के प्राणापान-स्मृति (पानापानसति) के समान है। यह 'शक्ति-द्वादशान्त' या कौण्डलिनी कहलाता है। एक दूसरा द्वादशान्त ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है जिसे 'शिव-द्वादशान्त या प्रक्रियान्त' कहते हैं।

१६९. सुभगे (सुन्दरि) यह देवी को सम्बोधन करके कहा गया है। इस दर्शन में बहुत सी रहस्य की बातें शिव और देवी के संवाद के रूप में कही गयी हैं।

१७०. उन्मेष का शब्दार्थ है खिलना, विकास। यह शैवागमयोग का एक पारिभाषिक शब्द है। इस ग्रन्थ में उन्मेषसम्बन्धी श्लोक की केवल एक पंक्ति दी हुई है। पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥

इसका अर्थ है--जब कोई एक विचार में लगा हुआ है और दूसरे विचार का उदय होता है तब दोनों विचारों के सन्धिविन्दु के संवेदन को उन्मेष समझना चाहिए। इसको कोई स्वयं देख ले अर्थात् अनुभव कर ले।

चित्त का स्वभाव है एक विचार से दूसरे विचार की ओर क्रम से चलते रहना, किन्तु यदि कोई एक विचार के समाप्त होते ही और दूसरे विचार के उदय होने के ठीक पूर्व चित्तवृत्ति को विश्रान्त कर ले, तो वह उन्मेष भाव को प्राप्त कर सकता है। इसका भाव है दो विचारों या विकल्पों के बीच में जो संविद् का स्पन्द है उसमें विश्रान्त होना अर्थात् दोनों विचारों का जो आधार या अधिष्ठान है उसमें ठहर जाना। उन्मेष की यह व्याख्या शाक्तोपाय दृष्टि से है।

शाम्भवोपाय की दृष्टि से अपने अभीष्ट ध्येय पर ध्यान करते-करते पारमार्थिक भाव का उदय होना 'उन्मेष' कहलाता है।

१७१. इन श्लोकों में, रसानुभूति पर ध्यान करने के द्वारा परमानन्द के स्वरूप की अनुभूति के लिए तीन उपाय बतलाये गये हैं।

(१) **आस्वादधारणा** : खान-पान के आस्वाद के मूल पर ध्यान करना।
(२) **शब्दधारणा**--संगीत से प्राप्त आनन्द के मूल पर ध्यान करना।
(३) **मनस्तुष्टिधारणा**--जिस किसी वस्तु से मन को प्रसन्नता होती है उसके मूल पर ध्यान करना।

१७२. समावेश को समझने के लिए अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक के २०५ पृष्ठ को देखें। वह इस प्रकार है :--

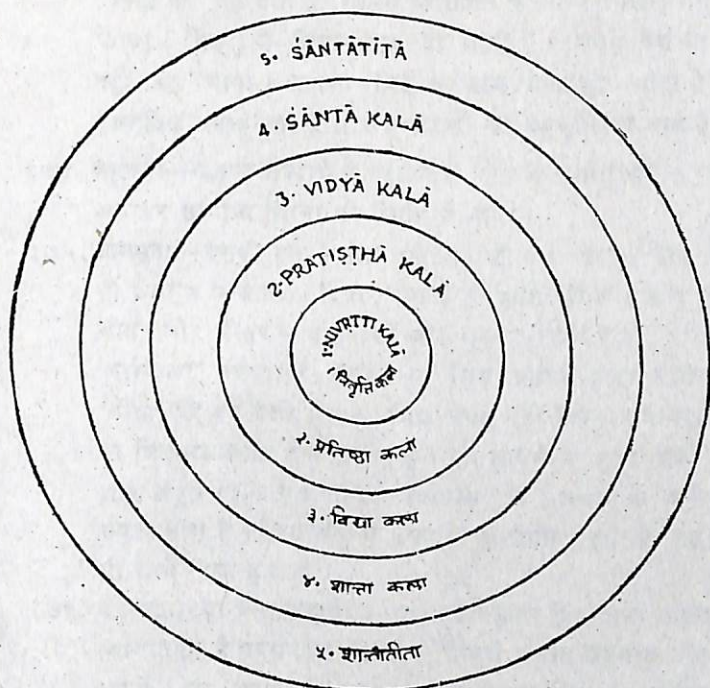
आवेशश्चास्वतन्त्रस्य,
स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
परतद्रूपता शम्भो--
राद्याच्छक्त्यविभागिनः (१,१७३)

आवेश (समावेश) का अर्थ है स्वातन्त्र्यरहित परमित प्रमाता का अपने संकुचित रूप को डुबोकर अर्थात् नगण्य बनाकर स्वतन्त्र चैतन्य अर्थात् परमशिव के साथ तादात्म्य कर लेना जो कि आद्या शक्ति से अभिन्न है। समावेश का भाव है अपने संकुचित रूप को विगलित कर परम शिव के रूप को ग्रहण कर लेना जो कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

देखिए टिप्पणी सं० १७७

अभिनवगुप्त के अनुसार कला और भुवनों का रेखाचित्र

KALĀS AND BHUVANAS ACCORDING TO ABHINAVA-GUPTA



EXPLANATORY NOTE ON THE DIAGRAM

रेखाचित्र का स्पष्टीकरण

समस्त विश्व पाँच कलाओं में विभक्त है।

१. निवृत्ति कला—यह निम्नतम कला है। यह मुख्यतः पृथ्वीतत्त्व की बनी हुई है। इसके अन्तर्गत १६ भुवन हैं। निवृत्तिकला का निम्नतम भुवन 'कालाग्निरुद्र भुवन' कहलाता है। इसी का क्षेमराज ने 'कालाग्न्यादेः' में उल्लेख किया है।

२. प्रतिष्ठा कला—निवृत्तिकला के बाद यह दूसरी कला है। इसमें जल तत्त्व से लेकर प्रकृतितत्त्व तक २३ तत्त्व हैं और ५६ भुवन हैं।

३. विद्या कला—यह तीसरी कला है। इसमें पुरुषतत्त्व से लेकर मायातत्त्व तक सात तत्त्व हैं और २८ भुवन हैं।

४. शान्ता कला—यह चौथी कला है। इसमें तीन तत्त्व हैं—शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव, और १८ भुवन हैं।

५. शान्तातीत कला—यह पाँचवीं कला है। इसमें केवल शिव और शक्ति तत्त्व हैं और कोई भुवन नहीं है।

१७३. **निमीलन समाधि**—यह आँख मूँद कर ध्यान करने पर आन्तरिक समाधि की वह दशा है जिसमें व्यक्तिगत चेतना (चित्त) सर्वव्यापी चेतना (चित्) में विलीन कर दी जाती है। इसमें वेद्य या ज्ञेय नहीं रह जाता। उसका चित् के साथ ऐक्य हो जाता है। यह वास्तविक अन्तर्मुखता है और पूर्णाहन्ता की अनुभूति का मार्ग है।

१७४. **व्युत्थान**—इसका शब्दार्थ है उठना। योग में इसका अर्थ है ध्यान के अनन्तर सामान्य चेतना की स्थिति में आना।

१७५. **क्रममुद्रा**—इसकी दूसरी संज्ञा मुद्राक्रम भी है। इसका भाव ग्रन्थ में ही क्रमसूत्र में बतला दिया गया है। इसमें चित्त क्रम से बाहर से भीतर और भीतर से बाहर की ओर झूलता रहता है।

'आभ्यन्तर' सर्वव्यापी चेतना या शिव प्रतीत होता रहता है और 'बाह्य' भी इस दशा में एक भिन्न जगत् नहीं किन्तु सर्वव्यापी चेतना या शिवरूप प्रतीत होने लगता है। इस सन्दर्भ में 'मुद्रा' शब्द अवयवों और अंगुलियों के एक विशेष विन्यास या संस्थान के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। जिस अर्थ में उसका यहाँ प्रयोग हुआ है वह ग्रन्थ में ही आगे दिया हुआ है।

१७६. पराभट्टारिका रूपा अहन्ता। यह पूर्ण अहन्ता है। परा अहन्ता कहने का तात्पर्य है परमोत्कृष्ट विमर्श। विमर्श अर्थात् अहंबोध तीन प्रकार का है—पर, अपर और परापर। पर विमर्श शिव का है जिसमें पूर्ण अभेद है, मैं और यह, ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है। अपर विमर्श अणु (जीव, व्यक्ति) का है जिसमें 'मैं' और 'यह' में 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' में सर्वथा भेद है। परापर विमर्श शक्ति का है जिसमें भेदाभेद है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद होने पर भी उसका अतिक्रमण होता रहता है।

१७७. 'कालाग्न्यादेः चरमकलापर्यन्तस्य'—निवृत्तिकला के अन्तर्गत कालाग्निभुवनेश से लेकर अन्तिम कला तक। निवृत्तिकला सृष्टि की निम्नतम कला है। शान्ताकला सृष्टि की उच्चतम कला है। यहाँ पर 'कला' का अर्थ है 'सृष्टि का भाग'। सृष्टि की कलाओं को समझने के लिए संलग्न रेखाचित्र देखिए।

१७८. **संविद्देवताचक्रम्**—संविद्देवतासमूह। समष्टि की दृष्टि से खेचरीचक्र, गोचरीचक्र, दिक्चरीचक्र और भूचरीचक्र संविद्देवता हैं। व्यष्टि की दृष्टि से परिमित प्रमाता, अन्तःकरण, बहिष्करण और प्रमेय संविद्देवता हैं।

१७९. **चमत्कार**—सृष्टि क्रिया के अद्भुत आनन्द को चमत्कार कहते हैं। यहाँ पर इसका भाव है 'अहंविमर्श'—पूर्णाहन्ता का आनन्द, समस्त सृष्टि को अहंभाव से समझने का आनन्द। यह अहंविमर्श प्रकाश के साथ एकसद्भाव का परिणाम है। 'प्रकाश' और 'विमर्श' के विषय में देखिए टि० २२।

परमसत् प्रकाश—विमर्शमय है। वह व्यक्त और अव्यक्त रूप में विश्व भी है और उसका शाश्वत अधिष्ठान भी है।

१८०. **प्रकाश के साथ एक सद्भाव**—क्षेमराज ने यहाँ पर सत् का आरोहणक्रम से वर्णन किया है। पहली अवस्था है—संवेद्य वा प्रमेय—जो कुछ भी ज्ञेय वस्तु है। दूसरी अवस्था है संवेदन या प्रमाण अर्थात् ज्ञान। तीसरी अवस्था है—सदाशिव जिसकी चेतना शरीर इत्यादि परिच्छिन्न उपाधियों से एकीकृत नहीं रहती, प्रत्युत समस्त विश्व ही जिसका शरीर है। चरम अवस्था है महेश्वर जिसकी आत्मसंवित्ति में समस्त सृष्टि समाविष्ट है और जिसका प्रकाश से एक सद्भाव है।

१८१. **आदिक्षान्तामायीयशब्दराशिपरामर्श**—'अ' लेकर 'क्ष' तक अमायीय शब्द राशि के परामर्श के कारण—तन्त्र के अनुसार पराशक्ति (चरम ईश्वरीय सर्जनात्मक शक्ति जिसके द्वारा विश्व का आविर्भाव होता है) परावाक् (चरम ईश्वरीय शब्द जो समस्त शब्दराशि का उत्स हैं) में व्यक्त होती है। प्रत्येक पद वाचक कहलाता है और प्रत्येक अर्थ वाच्य कहलाता है। वाच्य वा अर्थ ईश्वरीय शब्द का आशय मात्र है, वह केवल ईश्वरीय शब्द का दृश्य रूप है।

ईश्वरीय शब्द अमायीय है अर्थात् माया के क्षेत्र से परे है। शब्द दो प्रकार के हैं—मायीय (माया के क्षेत्र के) और अमायीय (माया के क्षेत्र से परे)। मायीय शब्द वे हैं जिनका अर्थ लौकिक परिपाटी के अनुसार आरोपित होता है। वे विकल्प मात्र हैं। अमायीय शब्द वे हैं जो निर्विकल्प हैं जिनका अर्थ सत्य है, जो कल्पना, आरोपण अथवा रूढ़ि के परिणाम नहीं हैं, जो चिन्मय हैं।

परामर्श—जो कुछ वाच्य-वाचक जगत् है वह अमायीय शब्द-राशि के रूप में महेश्वर में वर्तमान है। सृष्टि महेश्वर की अपनी शब्दराशि का परामर्श मात्र हैं, और कुछ नहीं।

१८२. **जगदानन्द**—जगत् रूपी आनन्द। जगदानन्द इस दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है महेश्वर का आनन्द जो जगत् के रूप में फूट निकलता है। इस दर्शन में जगत् महेश्वर के आनन्द की

च्युति नहीं है, प्रत्युत जगत् उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है। जगत् उसके आनन्द का दृश्य रूप है।

अभिनव गुप्त के जगदानन्द के विषय में निम्नलिखित श्लोक हैं :—

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्
यदनाहतसंवित्ति-परमामृतबृंहितम् ॥
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः।
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शंभुरूचिवान् ॥

(तंत्रा० खं० ३, ५ आ० ५०-५१)

सब ओर से प्रकाशमान होने के कारण जिसमें कोई विभाग नहीं है, जिसमें चेतना अक्षुण्ण और अविकल है अर्थात् जिसमें चेतना ही अपने को प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के रूप में अभिव्यक्त कर रही है, जो महेश्वर के आनन्दरूपी अमृत से प्रसारित है जिसमें ध्यान इत्यादि की कोई आवश्यकता ही नहीं है वही जगदानन्द है— ऐसा मुझको शम्भु ने बतलाया है। (शम्भु अभिनवगुप्त के गुरु का नाम है जिन्होंने उनको कौलमार्ग में दीक्षित किया था।)

जयरथ ने जगदानन्द के भाव को अपनी व्याख्या में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

जगता निजानन्दाद्यात्मना विश्वेन रूपेणानन्दो यत्र यतश्चेति जगदानन्दशब्दवाच्यम्।

"महेश्वर का अपना आनन्द जगत् के रूप में सब ओर से दृश्यमान होना जगदानन्द है"।

१८३. **अकुल**—"कुलं शक्तिरितिप्रोक्तं, अकुलं शिव उच्यते"। (स्वच्छन्द तन्त्र) आगम में शक्ति को 'कुल' कहते हैं और शिव को 'अकुल'। कुल अर्थात् समस्त जगत् शक्ति है। जो जगत् मात्र में लुप्त नहीं है, जगत् मात्र में खो नहीं गया है, वह 'अकुल' अर्थात् शिव है। 'अ' अक्षर मातृकाचक्र की दृष्टि से 'अनुत्तर' या 'अकुल' का द्योतक है।

१८४. **प्रत्याहार**—यहाँ पर प्रत्याहार शब्द संस्कृत व्याकरण के एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सूत्र अथवा सूत्रों के पहले अक्षर और अंतिम अक्षर को मिलाकर जो एक शब्द बनता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। उदाहरणार्थ अइउण्, ऋलृक्, एओङ्०, ऐऔच् सूत्रों का पहला अक्षर 'अ' है और अन्तिम अक्षर 'च्' है; इन दोनों को मिला-

कर अच् प्रत्याहार बनता है। अच् कहने से अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, और औ इन अक्षरों का बोध होता है। प्रत्येक सूत्र का अन्तिम हलन्त अक्षर केवल प्रत्याहार बनाने के लिए है। वह किसी अक्षर का द्योतक नहीं है।

इस प्रसङ्ग में पहले अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'ह' को मिलाने से 'अह' प्रत्याहार बनता है जो कि संस्कृत के 'अहं' शब्द का सूचक है जिसका अर्थ होता है 'मैं, आत्मा'। 'अह' प्रत्याहार के भीतर अ से ह तक संस्कृत भाषा का प्रत्येक अक्षर समाविष्ट है। आगम की दृष्टि से प्रत्येक अक्षर वाचक है जो एक वाच्य को सूचित करता है अर्थात् प्रत्येक अक्षर एक पदार्थ का द्योतक है यतः 'अह' प्रत्याहार में सभी अक्षर आ जाते हैं, अतः 'अह' वा 'अहं' विश्व के सभी पदार्थों का सूचक है। परम शिव की, 'अह' (मैं) की अनुभूति में समस्त विश्व अव्याकृत अभिन्न रूप में निहित है।

१८५. **बिन्दु**— बिन्दु का अर्थ है बिन्दी, नुकता।

अनुत्तर अर्थात् परमशिव के प्रशान्त महासागर में क्षोभ का, तनाव का एक कण उठता है। यह बिन्दु है। इसमें भावी विश्व अव्यक्त रूप से निहित रहता है। इस बिन्दु को 'घनीभूता शक्ति' कहते हैं। यह अभी पदार्थों में व्यक्त नहीं हुई है। यह चिद्घन है, घनीभूतासंविद् है जिसमें भावी समस्त विश्व और प्राणी सम्भाव्यरूप में, अविशिष्ट रूप में, अव्याकृतरूप में निहित हैं। इसलिए व्याख्याकार क्षेमराज ने लिखा है कि 'अ' और 'ह' सम्पुटीभूत रूप में समस्त सम्भाव्य विश्व को संगृहीत किये हुए अनुत्तर में, परमशिव में, एक अविशिष्ट बिन्दु के रूप में पड़ा रहता है। बिन्दु अविशेष का, अभेद का द्योतक है। (संस्कृत) भाषा में बिन्दु अनुस्वार के द्वारा अक्षर के ऊपर एक बिन्दी रखकर व्यक्त किया जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, 'अ' और 'ह' में समस्त विश्व संगृहीत है। 'अ' और 'ह' के अविभाग को व्यक्त करने के लिए उस पर अनुस्वार का बिन्दु रखा हुआ है और इस प्रकार 'अह' 'अहं' के रूप में वर्तमान रहता है। यह अहं परमशिव का विमर्श है जो इस बात का द्योतक है कि समस्त विश्व बीज रूपेण शिव में निहित है और उसमें अभिन्न है। 'अ' शिव का प्रतीक है, 'ह' शक्ति का प्रतीक है, उसपर जो अनुस्वार बिन्दु है, वह इस बात का द्योतक है कि यद्यपि शिव अपनी शक्ति के द्वारा पृथ्वी तक में व्यक्त है; वह इस

व्यक्तीकरण से विभक्त नहीं हो जाता, वह स्वरूपतः अविभक्त, पूर्ण रहता है। इसी बात को क्षेमराज ने 'अविभागवेदनात्मक बिन्दु-रूपतया' इन शब्दों में स्पष्ट किया है।

१८६. **प्रकाशस्य**—मूल में जो 'प्रकाशस्य' शब्द है, उसका यहाँ पर अर्थ है 'घटसुखादिवेद्यप्रकाशस्य' घट (बाह्य) और सुख (आन्तरिक) जो कुछ भी वेद्य रूपी प्रकाश है उसकी (विश्रान्ति)।

१८७. **महाह्लद**—महासरोवर। परम अहंविमर्श अथवा परम आध्यात्मिक आत्मचेतना को 'महाह्लद' कहा है। इसको 'महा' इसलिए कहा है क्योंकि यह अतिगंभीर है, स्वच्छ है और अपरिच्छिन्न है।

१८८. 'विवरणकार' से कल्लटाचार्य का निर्देश किया है जो वसुगुप्त के शिष्य थे और जिन्होंने 'स्पन्दकारिका' पर एक वृत्ति लिखी थी। कल्लट ईसवी ९वीं शती में हुए थे।

१८९. **संवित्तिदेवताचक्र**—जब इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण पवित्र होकर देवतातुल्य हो जाती हैं तब उनके चक्र (समूह) को 'संवित्तिदेवताचक्र' कहते हैं।

१९०. 'चक्रवर्ती' शब्द में श्लेष है। एक अर्थ है चक्र (इंद्रियसमूह) का शासक। दूसरा अर्थ है 'सार्वभौम सम्राट्'।

●

पारिभाषिक शब्दों का कोश

अ

अ	अनुत्तर, शिव
अकुल	शिव जो कुल अर्थात् शक्ति नहीं है, शिव है।
अख्याति	अज्ञान
अधःकुण्डलिनी	लम्बिका से लेकर मूलाधार के १$\frac{3}{4}$ वलय तक कुण्डलिनी का क्षेत्र (दे० टि० १६०)
अधोवक्त्र	गुदा के मूल में स्थित मेढ़्कन्द
अनच्क	शब्दार्थ-व्यञ्जन का विना स्वर के उच्चारण, गूढार्थ-किसी मंत्र की मानस अवस्था पर ध्यान जहाँ उसका उच्चारण नहीं होता।
अनन्तभट्टारक	मंत्रप्रमाताओं का अधिष्ठाता।
अनाश्रितशिव	शिव की वह अवस्था जिसमें कोई ग्राह्य नहीं है, जिसके सम्मुख केवल शून्य है, विश्व प्रतिषिद्ध हो गया है।
अनुग्रह	दैवीकृपा
अनुत्तर	जिससे बढ़कर और कोई नहीं है, परम असीमसत्, परमार्थ।
अन्तकोटि	अन्तिम स्थल; भ्रुवों के बीच से बारह अंगुलियों के अन्तर का स्थल जिसे द्वादशांत कहते हैं।
अन्तर्मुखी भाव	चित्त का भीतर की ओर मुड़ना, प्रत्यगवृत्ति।
अपर	निम्न
अपवर्ग	मोक्ष
अपान	बाहर से भीतर की ओर, गुदा की ओर चलनेवाली वायु।
अमायीय	माया के प्रभाव से परे; अमायीय शब्द वह है जिसमें पद और अर्थ एकात्म होते हैं।
अर्थ	उद्देश्य; लक्ष्य; इन्द्रियों का विषय।
अलंग्रास	ग्राह्य को पूरी तौर से निगल जाना अर्थात् उसको इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि वह आत्मचेतना से भिन्न न जान पड़े।

अव्यक्त	अप्रकट; अदृश्य. अनाविर्भूत ।
असत्	जिसका अस्तित्व न हो, सत् से विपरीत ।
अहन्ता	अहं अर्थात् मैं की चेतना ।
अहंभाव	मैं का भाव, मैं की अनुभूति ।

आ

आणवमल	अणु अर्थात् जीव का जन्मजात अज्ञान, वह आद्य परिमितता जिसके द्वारा सार्वभौम चेतनता जीव बन जाती है, बोध से शक्ति चली जाती है और शक्ति से बोध चला जाता है और इस प्रकार अपूर्णता का बोध होता है ।
आत्मविश्रान्ति	आत्मा में, अपने में विश्राम या ठहराव ।
आत्मसात्कार	अपने में समीकरण: स्वात्मीकरण ।
आदिकोटि	प्रथम कोटि; हृदय जहाँ से प्राण उमड़ता है ।
आनन्द	आनन्द; शक्ति का स्वरूप ।
आभासन	शब्दार्थ-आभास, गूढ़ार्थ-सृष्टि ।
आर्हत	जैन ।
आश्यानता	सिमट जाने की स्थिति: सूख जाने की स्थिति; ठोस हो जाने की स्थिति ।

इ

इच्छा	सदाशिव की प्रधान चेतना ।
इदन्ता	इदं (यह) की चेतना, यह का परामर्श

ई

ईश्वरतत्त्व	शिव से गिनने पर (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर) चौथा तत्त्व; ईश्वर तत्त्व में अहं (मैं) और इदं (यह) दोनों परामर्श (चेतना) स्फुट रहता है । इसमें अहं और इदं दोनों की चेतना उभरी हुई रहती है ।
ईश्वरभट्टारक	ईश्वरतत्त्व में व्यवस्थित मंत्रेश्वरों का अधिष्ठाता ।

उ

उदान	वह प्राण जो ऊपर की ओर जाता है; वह प्राण या शक्ति जो सुषुम्ना में होती हुई ऊपर की

	ओर चलती है और आत्मिक चेतना घटित करती है ।
उद्वमन्ती	शब्दार्थ—बमन करती हुई, भावार्थ—बाहर करती हुई, व्यक्त करती हुई ।
उन्मेष	शब्दार्थ—आँख का खुलना । भावार्थ—सृष्टि का प्रारम्भ । शैवयोग में—आत्मिक चेतना का स्फुरण या विकास जो कि विचारों की स्पन्दभूमि या अधिष्ठान है ।
उन्मीलन	शब्दार्थ—आँख का खुलना; भावार्थ—अवस्थित का प्रकटीकरण, व्यक्त होना ।
उन्मीलन समाधि	चित्त की वह स्थिति जिसमें आँख खुले रहने पर भी बाह्य जगत् सर्वव्यापी चेतना या शिवरूप प्रतीत होने लगता है ।

ऊ

ऊर्ध्वकुण्डलिनी	जब प्राण और अपान सुषुम्ना में प्रवेश कर जाते हैं, तब ऊपर के भाग की कुण्डलिनी शक्ति ।

क

कंचुक	कोश ।
करणेश्वर्यः	खेचरी-गोचरी,-दिक्चरी-भूचरी चक्र ।
कला	कर्तृत्व, परिमितकर्तृत्व, अभिव्यक्ति की प्रावस्था, अंश, अक्षर या शब्दांश (ह कला-पर्यन्त) ।
कारण	किसी का हेतुः वह जिसमे कार्य की उत्पत्ति हो ।
कार्ममल	कर्म के परिणामस्वरूप चित्त में अवस्थित वासना या संस्कार का मल ।
कार्य	कार्य का परिणाम
काल	वह शक्तिं जिससे समय या क्रम निष्पन्न होता है ।
कालाग्नि	निवृत्तिकला का निम्नतम भुवन (दे० टि० १७४)

कुल	शक्ति
कुलाम्नाय	शाक्त शास्त्र या सिद्धान्त
क्रिया	कार्य, शुद्धविद्या की शक्ति

ख

खेचरी	वामेश्वरी शक्ति की उपजाति, प्रमाता से सम्बद्ध शक्ति, वह शक्ति जो खे (आकाश में) चरी (चलने वाली) है—आकाश इस सन्दर्भ में चेतना का प्रतीक है :
ख्याति	ज्ञान

ग

गोचरी	वामेश्वरी शक्ति की उपजाति, प्रमाता के अन्तः-करण से सम्बद्ध । 'गो' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय, अन्तःकरण इन्द्रियों का आश्रय है, अतः गोचरी अन्तःकरण से सम्बद्ध है ।
ग्राहक	ज्ञाता, प्रमाता, विकल्पमय जीव
ग्राह्य	ज्ञेय : विषय ।

च

चमत्कार	पूर्णाहन्ता का आनन्द : कलाजन्य आनन्द का अनुभव ।
चरमकला	शान्त्यतीत कला अथवा शान्तातीत कला, अभि-व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट अवस्थान ।
चार्वाक	भौतिकवादी; अनात्मवादी, यदृच्छावादी स्वभाव-वादी ।
चार्वाक दर्शन	भौतिकवादी-अनात्मवादी-यदृच्छावादी दर्शन
चित्	शुद्ध परम निरुपाधिक चैतन्य, सब विकारों का अविकृत अधिष्ठान ।
चित्त	चितिशक्ति के संकोच से जन्य सत्यप्रधानस्वरूपी चेतना; मायाप्रमाता का स्वरूप ।
चेतन	आत्मा : परमेश्वर, चैतन्यविशिष्ट जीव, प्राणी ।
चेत्य	ज्ञेय, चेतना का विषय ।

छ

छेद	अनच्क की ध्वनि से प्राण और अपान का निरोध ।

ज

जगत्	गच्छति इति जगत्—जो बराबर चलता रहे, स्थायी न हो।
जगदानन्द	आत्मा या महेश्वर का आनन्द जो जगत् के रूप में अभिव्यक्त है।
जाग्रत्	जागते रहने की अवस्था; वह अवस्था जिसमें जीव शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों का ग्रहण करता रहता है।
जीव	देहावच्छिन्न चैतन्य, जीवात्मा।
जीवन्मुक्ति	देहमें रहते हुए, जीते जी हो जानेवाली मुक्ति
ज्ञान	सच्चा बोध; ईश्वर की शक्ति

त

तत्त्व	वहपन, किसी वस्तु का वस्तुत्व, सार, आद्य अथवा मूलरूप
तनुता	क्रमशः कम होता जाना, सूक्ष्मता, प्रह्लसन, तनूकरण
तमस्	प्रकृति का स्थित्यात्मक गुण, मोह
तर्कशास्त्र	ऊहापोह का शास्त्र, युक्तिशास्त्र
तांत्रिक	तन्त्र का अनुयायी
तुरीय	जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से परे चेतना की चौथी अवस्था जो तीनों अवस्थाओं को एक सूत्र में बाँधती है, अविकल चेतना मनोवैज्ञानिक प्रमाता से भिन्न दृक् चैतन्य; साक्षिचैतन्य।
तुर्य	तुरीय
तुर्यातीत	तुर्य से परे चेतना की अवस्था जिसमें तीन-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का भेद समाप्त हो जाता है, वह आनन्दमय शुद्ध चेतना जिसमें कोई विकार नहीं होता, जिससे विश्व अपना आत्मा ही जान पड़ता है।
त्रिक	तीन—(१) शिव, (२) शक्ति, (३) नर, अथवा पर (१), परापर (२), अपर (३) का दर्शन वा शास्त्र

द

दर्शन — तत्त्वज्ञान करानेवाला शास्त्र ।

दिक्‌चरी — दिशाओं में चलनेवाली, वामेश्वरी शक्ति का वह प्रकार जो बहिष्करण अर्थात् बाह्येन्द्रियों से सम्बद्ध है । दिक् का अर्थ है देश या दिशा । बाह्येन्द्रियों का सम्बन्ध देश से है । इसलिए बहिष्करण दिक्‌-चरी शक्ति का क्षेत्र है ।

देश — फैलाव, दिक्

न

नित्यत्व — सनातनत्व

निभालन — देखना, मानसिक अभ्यास

निमीलनसमाधि — ध्यान की वह आन्तरिक अवस्था जिसमें व्यष्टि चेतना समष्टि चेतना में समाहित हो जाती है ।

निमेष — पलक मारना, विश्व का परम शिव में लीन हो जाना ।

नियति — कार्य-कारण द्वारा संकोच, देश-संबंधी संकोच ।

नैयायिक — न्यायशास्त्र का विद्वान् या न्याय का अनुसरण करनेवाला ।

प

पंचकृत्य — सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह ये शिव के पाँच कृत्य अथवा योगी के आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन, विलापन—ये पाँच कृत्य ।

पति — प्रभु, शिव

पतिदशा — परप्रमातृदशा, शुद्धाध्वप्रमातृता, मुक्ति ।

पर — सर्वोत्कृष्ट

परप्रमाता — सर्वोत्कृष्ट ज्ञाता, परमशिव

परमशिव — परमसत्, परमार्थ, अनुत्तर, विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशघन शिव ।

परमार्थ — सर्वोत्कृष्टसत्, तात्त्विकसत्य, यथार्थतत्व, सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य ।

परापर	पर (परमार्थं, अद्वय) और अपर (भेद) दोनों, सर्वथा अद्वय और सर्वथा भेद दोनों के बीच की अवस्था, भेदाभेद—भेद के भीतर अभेद ।
परामर्श	मानसिक पकड़, अनुभव, बोध, स्मरण करना
पराशक्ति	परमशिव की सर्वोत्कृष्ट शक्ति, चिति, पारमेश्वरी-स्वातन्त्र्यशक्ति ।
परावाक्	परमशिव की चित्-स्पन्द रूपी शक्ति : अव्यक्त शब्द; विश्वचेतना, किसी अन्य की अपेक्षा न करती हुई अहंपरामर्शमयी वाक् ।
परिच्छिन्न	परिसीमित ।
परिणाम	विकार, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना, रूपान्तर होना ।
पशु	अविद्या इत्यादि पाश में बँधा हुआ जीव, अज्ञानी ।
पश्यन्ती	परमशिव का होनेवाले विश्व का अविशिष्ट रूप में ईक्षण, वाक्शक्ति की सर्जन की उन्मुखता जिस अवस्था में वाच्य (अर्थ) और वाचक (पद) अभिन्न रहते हैं ।
पांचरात्र	वैष्णवदर्शन, इस दर्शन का अनुयायी ।
पांचरात्रिक	वैष्णव दर्शन वा मार्ग का अनुयायी ।
पाश	बन्धन, रस्सी ।
पुर्यष्टक	पंचतन्मात्रा, बुद्धि, अहंकार और मन—इन आठों की पुरी वा समूह, सूक्ष्मशरीर ।
पूर्णत्व	सर्वोत्तम अवस्था ।
पूर्णाहन्ता	पूर्ण अहंचेतना जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता ।
पृथिवी	पंचमहाभूतों में ठोस तत्त्व ।
प्रकाश	आत्माभिव्यक्ति—तत्त्व, चैतन्य जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है ।
प्रकृति	बुद्धि से लेकर पृथिवी तक की अभिव्यक्ति का उत्स वा प्रभव ।
प्रत्यभिज्ञा	पहचान, यह ज्ञान कि परमेश्वर और जीवात्मा एक है ।

प्रत्याहार	सूत्र के प्रथम वर्ण (अक्षर) और अन्तिम निर्देशात्मक वर्ण (अक्षर) के संयोग से बना हुआ एक शब्द जो कि कई वर्णों का सूचक होता है। (दे० टि० १८४)। योग की वह क्रिया जिसमें इन्द्रियों को विषयों से हटाकर निरुद्ध किया जाता है।
प्रथ्	विस्तृत होना, विकसित होना: प्रदर्शित होना।
प्रथा	बढ़ने, फैलने, विकसित होने, प्रदर्शित होने का ढंग, रीति, परिपाटी।
प्रमाण	प्रमा, ज्ञान, (सच्चे ज्ञान) का करण या साधन; सबूत।
प्रमाता	ज्ञाता, प्रमाण द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करनेवाला, अनुभव करनेवाला।
प्रमेय	प्रमा या ज्ञान का विषय।
प्रलयाकल अथवा प्रलयकेवली	मायातत्त्व में अवस्थित शून्य का प्रमाता।
प्रसर	फैलाव, शिव की अपनी शक्ति द्वारा विश्वरूप में अभिव्यक्ति।
प्राण	जीवन शक्ति, प्रश्वासवायु।
प्राणायाम	श्वास-प्रश्वासगति का नियमन।

ब

बन्ध	बन्धन, योग की वह क्रिया जिसमें शरीर के कुछ भाग संकुचित करके एक विशेष स्थिति में परिबद्ध कर लिये जाते हैं।
बल	इस दर्शन में बल का अर्थ है 'चिद्बल'—चित् अथवा आत्मा की शक्ति।
बहिर्मुखता	चेतना की बाहर की ओर उन्मुखता, पराक्चेतना।
बहिर्मुखी भाव	बहिर्मुखता की अवस्था या दशा।
बिन्दु (विन्दु)	बूंद, नुक्ता, आतिभौतिक बूंद अर्थात् घनीभूता शक्ति जो कि एक अविशिष्ट बिन्दु में संहृत होकर सर्जन के लिए उन्मुख है, पर प्रमाता, अनुस्वार जो कि अहं के ऊपर बिन्दु रूप में रखा हुआ (अहं) यह

	संकेत करता है कि शिव 'अ' से लेकर 'ह' तक जगत् में विभिन्न रूप से अभिव्यक्त होने पर भी अभिन्न है (दे० टि० १७६)।
बीजावस्थापन	बीज का रखना, गूढ़ार्थ–विलय अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को संगोपित या छिपा रखना।
बुद्धि	व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका चेतना, चेतना की वह स्थिति जिसमें जीव अंधकार से जग जाता है।
बैन्दवी कला	बैन्दवी-बिन्दु सम्बन्धी–इस प्रसंग में बिन्दु का अर्थ है परप्रमाता; कला-कौशल, स्वातंत्र्य। बैन्दवीकला परमशिव का वह कौशल, वह स्वातन्त्र्य जिससे प्रमाता सदा प्रमाता बना रहता है और कभी अन्तर्भूत नहीं होता।
ब्रह्मनाडी	सुषुम्ना, मध्यप्राण नाडी।
ब्रह्मरन्ध्र	सहस्रार चक्र।
ब्रह्मवाद	(इस दर्शन में) शांकरवेदान्त।

भ

भाव	बाह्य अथवा आन्तरिक सत्ता, विषय।
भुवन	होना, होने का स्थान, लोक, आलय।
भूचरी	वामेश्वरी शक्ति का एक प्रकार जो कि भावों से सम्बद्ध है।
भूमिका	अभिनेय अंश, गृहीतकार्य।
भैरव	परमशिव। यह भ, र, और व की अक्षरसृष्टि है। भ 'भरण' (स्थिति) का द्योतक है, र 'रवण' (संहार) का द्योतक है और व 'वमन' (सृष्टि) का द्योतक है।
भोग	सुख-दुःख का अनुभव–कभी-कभी सुखमात्र के संकुचित अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है।
भोक्ता	सुखदुःख का अनुभव करनेवाला।

म

मध्य	संवित्, शुद्ध अहन्ता, सुषुम्ना अर्थात् मध्यनाड़ी।
मध्यधाम	सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी।
मध्यमा	स्थूल अभिव्यक्ति के पूर्व बुद्धिनिष्ठ वाक्शक्ति।
मध्यशक्ति	संवित् शक्ति

मन्त्र	वह प्रमाता जिसने शुद्ध विद्या का साक्षात्कार कर लिया है; विद्यातत्त्व में अध्यासीन प्रमाता; वह शब्द या शब्दसमूह जिसका जप या ध्यान किया जाय।
मन्त्रमहेश्वर	वह प्रमाता जिसने सदाशिवतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है।
मन्त्रेश्वर	वह प्रमाता जिसने ईश्वरतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है।
महामन्त्र	शुद्ध चेतना का, पूर्णाहन्ता का मन्त्र।
महार्थ	परमोत्कृष्ट लक्ष्य, शुद्धपूर्णाहन्तापद, क्रमसाधना।
महेश्वर	परमेश्वर, परमशिव, अनुत्तर।
माध्यमिक	बौद्ध मध्यमकदर्शन का अनुयायी।
माया	'मा' धातु से निष्पन्न 'मापना'। अनन्त की मेय और परिछिन्न बनाने की, आवरण और विक्षेप की शक्ति, शुद्धविद्या से नीचे का तत्त्व पाँच कञ्चुकों की योनि।
मायाप्रमाता	माया द्वारा वशीभूत जीव।
मायीयमल	माया के द्वारा मल या संकोच जिससे जीव के स्थूल और सूक्ष्म शरीर बनते हैं और भेद की प्रतीति होती है।
माहेश्वर्य	महेश्वर की शक्ति।
मीमांसक	मीमांसा दर्शन का अनुयायी।
मुक्ति	आत्मतत्त्व का परिज्ञान, अज्ञानग्रंथि के भेद से स्वात्मशक्ति की अभिव्यक्ति, परमशिवीभाव।
मुद्रा	आध्यात्मिक आनन्द (मुद) को देनेवाली (रा) स्थिति तुर्यचेतना में विश्व को मुहरबन्द करनेवाली दशा (मुद्रयति इति), हाथ, गर्दन इत्यादि की विशेषभाव सूचक स्थिति, योग में ध्यान के सहायक रूप में कुछ अवयवों का नियन्त्रण।
मुद्राक्रम (अथवा क्रममुद्रा)	तुरीया चितिशक्ति, वह अवस्था–विशेष जो सृष्टि-स्थिति-संहृति रूपी चक्र के क्रम को मुद्रित करती है अर्थात् आत्मसात् करता है, वह अवस्था विशेष जिसमें चित्त में समावेश के वेग से आभ्यन्तर और

	वाह्य में आत्मा और विश्व में क्रम से एकरूपता अर्थात् शिवात्मकता की संसिद्धि होती है ।
मेय	भौतिक ज्ञेय, विषय, भौतिक पदार्थ ।
मोक्ष	दे० मुक्ति

र

रक्ति	आस्वाद, आनन्द, गूढ़ार्थ-स्थिति ।
रजस्	प्रकृति का प्रवृत्तिरूपीगुण ।
राग	माया का एक कंचुक जिसके द्वारा पूर्णत्व परिछिन्न हो जाता है और विषय-विशेष के लिए अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

व

वह्नि	(वह–ले जाना) शैव योग का एक पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है अधःकुण्डलिनी के मूल और मध्य के अर्ध भाग में पूर्ण रूप से प्रवेश करना दे० टि० १६३-१६४ ।
वाचक	शब्द, संकेत ।
वाच्य	जिसका अभिधाशक्ति से बोध हो, पदार्थ ।
वामेश्वरी	परमशिव की वह शक्ति जो कि विश्व का वमन करती है, अर्थात् परमशिव से विंश्व को बाहर प्रक्षिप्त करती है और इस प्रकार वाम चेतना अर्थात् अभेद में भेद उत्पन्न करती है ।
वाह	सुषुम्ना की बाईं ओर इडा नाड़ी में बहते हुए प्राण-वायु और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी में बहते हुए अपान वायु की समुच्चयात्मक संज्ञा वाह है ।
विकल्प	विभिन्नता, भेदयुक्त ज्ञान, प्रत्ययन, कल्पना ।
विकल्पनम्	चित् की भेद-ज्ञान की क्रिया ।
विकल्पक्षय	विकल्पों का विलोप ।
विकास	खिलना, प्रसार ।
विग्रह	शरीर, रूप, आकार ।
विग्रही	शरीरी, शरीरयुक्त ।
विज्ञानाकल	वह व्यक्ति जो माया से तो ऊपर है, किन्तु शुद्ध-विद्या से नीचे है, जिसमें ज्ञान है किन्तु कर्तृत्व नहीं है, किन्तु अभी आणव मल से मुक्त नहीं है ।

विद्या	परिछिन्न ज्ञान ।
विभूति	वैभव, महत्ता, अलौकिक शक्ति ।
विमर्श	शब्दार्थ-अनुभव, ज्ञान । इस शास्त्र में पारिभाषिक अर्थ—परम शिव की ज्ञान-क्रियात्मक आत्मसंवित्ति-रूपी-शक्ति जिससे सृष्टि होती है ।
विमर्शन	आन्तर्बोध, गूढ़ार्थ-संहार ।
विलय	संगोपन, तिरोभाव ।
विलापन	संहार, (गूढ़ार्थ) अनुग्रह ।
विश्व	समग्र ब्रह्माण्ड, समग्र ।
विश्वमय विश्वात्मक	समग्र ब्रह्माण्ड में अन्तर्व्याप्त, सर्वव्यापी, अन्तर्वर्ती, विश्वानुग ।
विश्वोत्तीर्ण	परात्पर, भौतिक संसृति से परे, अतिवर्ती विश्वातिग ।
विष	यह शैव योग का एक पारिभाषिक शब्द है । अधः-कुण्डलिनी के मध्य के शेष अर्धभाग और उसके पूर्ण अग्रभाग से लेकर ऊर्ध्वकुण्डलिनी तक आवेश अथवा प्रवेश 'विष' कहलाता है ।
वैखरी	शक्ति जो स्थूल, भौतिक अक्षर में व्यक्त है ।
वैष्णव	विष्णु का अनुयायी: वैष्णवदर्शन और प्रक्रिया का अनुयायी ।
व्यान	वह वायु या प्राण जो चारों ओर व्याप्त है ।
व्यापकत्व	सर्वव्यापिता ।
व्यामोहितता	मोह ।
व्युत्थान	शाब्दिक अर्थ उठना, योग का पारिभाषिक शब्द—'समाधि के बाद सामान्य चेतनावस्था में आ जाना ।'

श

शक्ति	शिव का अन्तर्बल जिसके द्वारा वह पंचकृत्य करता है ।
शक्तिपात	किसी शिष्य या साधक पर शक्ति का गिराव, अनुग्रह ।
शक्तिप्रसर	शक्तिविकास, समाधि से साधारण दशा में आने पर भी समाधि के अनुभव को बनाये रखना ।

शक्तिविकास	इन्द्रियों के विषयों की ओर खुले रखने पर भी आन्तरिक सत्य पर एकाग्रता को बनाये रखना।
शक्तिविश्रान्ति	समाधि में निमज्जित होना और उस दशा में टिके रहना।
शक्तिसंकोच	इन्द्रिय व्यापार से चित्त को हटाकर आन्तरिक सत्य की ओर मोड़ना।
शब्दब्रह्म	चरमसत् जिसका स्वरूप स्पन्दन है जिसमें पद और अर्थ एक हैं और जिसका मानवीय शब्द स्थूल प्रतिरूप हैं (दे० टि० ७५-७६)।
शासन	शास्त्र
शिव	सत्, परमार्थ, भद्र
शिवतत्त्व	३६ तत्त्वों में का आदितत्त्व जिसका लक्षण है चित् स्वरूप।
शुद्धविद्या	शिव से गिनने पर पाँचवाँ तत्त्व जिसका परामर्श है 'इदं च अहं च'। दे० टि० १८ में ३६ तत्व।
शुद्धाध्व	अतिजागतिक सत्ता, प्रथम पाँच तत्वों की अभिव्यक्ति।
शून्य	रिक्त, वह अवस्था जिसमें किसी पदार्थ का अनुभव नहीं होता।
शून्यप्रमाता	केवल शून्य अर्थात् रिक्त का अनुभव करने वाला, प्रलयाकल।

ष

षष्ठवक्त्र	छठाँ अवयव, गुदा के मूल के पास का मेढ्रकंद

स

संवित्	चेतना, परम चेतना।
संवित् देवता	समष्टि की दृष्टि से—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी संवित् देवता है, व्यष्टि की दृष्टि से आन्तरिक और बाह्य इन्द्रियाँ संवित् देवता हैं।
संसार	जगत्, जन्म-मरण।
संसारी	जीव जिसका संसरण (जन्म-मरण) होता रहता है।
संसृति	गमनागमन, जन्म-मरण का क्रम।
संहार	बटोर लेना, जगत् का शिव में लय।

सकल	देव से लेकर कीट तक सभी जीव जो मायातत्त्व में हैं। इन्हे अपने आत्मा का बोध नहीं होता और इनमें भेद-बुद्धि बनी रहती है।
सत्	अस्तित्व जिसका स्वरूप चित् है।
सत्व	अस्तित्व, प्राण, प्रकृति का वह गुण जिसका लक्षण प्रकाश है।
सदाशिव	शिव से गिनने पर तीसरा तत्त्व, वह अवस्था विशेष जिसमें अहं (मैं) का प्राधान्य रहता है और इदं (यह विश्व) अस्फुट रहता है। इस तत्त्व का दूसरा नाम है सादाख्यतत्त्व। इस तत्त्व में इच्छा की प्रधानता होती है।
समरस	समचेतन, एक रस हो जाना।
समाधि	चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता।
समान	पंचप्राणों में से वह प्राण अथवा वायु जो भोजन इत्यादि का समीकरण करता है और प्राण और अपान वायु का सन्तुलन करता है।
समापत्ति	समाधि की परिपूर्णता।
समावेश	शिव या शक्ति से आविष्ट होना, वैयक्तिक चेतना का ईश्वरीय चेतना में लय।
सर्वकर्तृत्व	सब कुछ करने की शक्ति।
सर्वज्ञत्व	सब कुछ जानने की शक्ति।
सहज	स्वाभाविक।
सामरस्य	चेतना का एकात्म्य, शिव और शक्ति का तादात्म्य।
संकोच	सिकुड़न, परिमितता।
सांख्य	वह दर्शन जो पुरुष और प्रकृति को दो सर्वथा भिन्न मूल तत्त्व मानता है। इस दर्शन का अनुयायी भी सांख्य कहलाता है।
सुषुप्ति	गाढ़ स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था।
सृष्टि	सर्जन, निस्सरण, निर्गम, प्रकटीकरण।
स्थिति	धारण, रखाव।
स्वप्न	सपने की अवस्था।
स्वरूप	अपना वास्तविक रूप, वास्तविक भाव, मूलवस्तु।
स्वरूपापत्ति	अपने वास्तविक रूप की प्राप्ति।

स्वतंत्र	अपनी इच्छानुसार निरपेक्ष अबाधित कर्ता ।
स्वातंत्र्य	परमशिव का निरपेक्ष अबाधित इच्छानुसार कर्तृत्व ।
स्वात्मसात्कृत	अपने में मिला लेना, अपने में समीकरण कर लेना ।
स्वेच्छा	शिव या शक्ति की अपनी इच्छा, स्वातंत्र्य ।

ह

ह	शक्ति का प्रतीक ।
हठपाक	अनुभव का प्रमातृचेतना के साथ सात्म्यीकरण की निरन्तर आग्रही प्रक्रिया ।
हृदय	केन्द्रीय चेतना, आध्यात्मिक केन्द्र ।
हेतु	कारण
हेतुमत्	कार्य



अकारादिक्रम से मुख्य शब्दों की अनुक्रमणिका

अकारादिक्रम से सूत्रों की अनुक्रमणिका

शिवसूत्र-विमर्श

जानकीनाथ कौल 'कमल'

कश्मीर के अद्वैत शैव दर्शन का प्रथम ग्रन्थ 'शिव-सूत्र' माना जाता है। शिव सूत्रों का रहस्यार्थ त्रिक-शास्त्र की स्पन्द-शाखा पर आधारित है, जो शाक्तोपाय के अन्तर्गत मानी गयी है।

शिव-सूत्र विमर्श में प्रतिपादित विषय तीन चरणों में दिया गया है: *प्रथम विकास* में शाम्भवोपाय की दृष्टि से शिवस्वरूप के अनुभव का स्फुरण है; *द्वितीय विकास* में शाक्तोपाय के द्वारा शिवस्वरूप के अनुभव का वर्णन है; और *तृतीय विकास* में आणवोपाय द्वारा शिवस्वरूप के आनन्दानुभव का वर्णन है। साधकों के लिए लाभ की पुस्तक है।

योगिनीहृदयम्

व्रजवल्लभ द्विवेदी

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की आन्तर वरिवस्या का प्रतिपादक ग्रन्थ है *योगिनीहृदयम्*। इसमें योगिनी (स्वसंवित् स्वरूपा भगवती त्रिपुरा) का हृदय (स्वरूप) उसी प्रकार प्रकट हुआ है, जैसे कि सामान्य जन के हृदय में अपना ज्ञान उन्मिषित होता है। यहाँ योग का अर्थ है जगत् की सारी वस्तुओं के साथ ज्ञान का समवाय संबंध। इससे भासित होने वाली है योगिनी।

चक्रसंकेत, मन्त्रसंकेत और *पूजासंकेत*—तीन पटलों में विषय-वस्तु गंभीर एवं संक्षिप्त शैली में वर्णित है। मूल और टीका को अनेक हस्तलेखों की सहायता से संशोधित कर भाषानुवाद के साथ प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा

हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा

प्रस्तुत कृति में विभिन्न विषयों का तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक विवेचन, नवीन सामग्री सहित सुस्पष्ट एवं सुगम भाषा में किया गया है।

इसके प्रारम्भिक भाग में वेदों और उपनिषदों का सरल अध्ययन उपलब्ध है। इसके पश्चात् गीता, चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा आदि विभिन्न दर्शनों का प्रस्तुतीकरण है। अन्त में लेखक ने शंकर के अद्वैत एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत पर सम्यक् रूप में प्रकाश डाला है।

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • मुम्बई • चेन्नई • कोलकाता
बंगलौर • वाराणसी • पुणे • पटना

E-mail: mlbd@vsnl.com
Website: www.mlbd.com

ISBN 978-81-208-2102-6



9 788120 821026

मूल्य: रु० 110 कोड: 21026

जयदेव सिंह

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्